ॐ



श्रीपुष्पदंतप्रणीतं

शिवमहिम्नः स्तोत्रम्

With Sanskrit and Hindi Commentaries

By

Lalta Prasad Tondon,

M. A. LL. B. Advocate (H. C. Alld.)

CAWNPORE.

'Superior to Mahimna prayer there is none'

'महिम्नो नापरास्तुतिः'

1933

584

श्रीपुष्पदंतप्रणीतं

शिव महिम्नः स्तोत्रम्

श्रीयुतललिताप्रसादटंडन-

(एम. ए. एलएल. बी. एडह्वोकेट हाईकोर्ट इलाहाबाद-कानपुर)

विरचितसंस्कृतभाषाभाष्यद्वयोपेतम् ।

" महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः "

"भालमें जाके कलानिधि है वह साहब ताप हमारी हरैगो ।
अंग है जाको विभूतिभरो वह भौन में संपति भूरि भरैगो ॥
घातक है जो मनोभव को मनपातक वाही के जारे जरैगो ।
'दास' जू सीस पै गंग धरे रहै वाकी कृपा कहु को न तरैगो" ॥

प्रथमवार १०००

PUBLISHED BY :—

S. G. Rastogi B. Com., F. R. E. S.
CAWNPORE.

मूल्यम् ॥)

अशुद्धि-पत्र ।

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
ग	२८	गुणानुबाद	गुणानुवाद
घ	१	सस्कृत	संस्कृत
२	६	सवगंधर्व	सर्वगंधर्व
३	४	आधष्ठाता	अधिष्ठाता
३	२५	व्यर्थ	व्यर्थ
४	२४	सीम	सीमा
६	६	६५	६,५
६	८	महाक्य	महावाक्य
६	११	वाचो	वाचों
१२	२०	तनुष	तनुषु
२५	२१	गतिशीलत	गतिशीलता
२८	७	अनिवर्चनीय	अनिर्वचनीय
४६	१२	फेनोद्भतच्छटा	फेनोद्भूतच्छटा
४६	२०	शतधृात	शतधृति
७८	नक्शा	लुब्धक	लुब्धक
७८	नक्शा	मृगव्याध	मृगव्याध्र
८०	६	क्रमन्त	क्रमन्तं
८४	११	छोढ़ते	छोड़ते
६०	१२	निष्प्रपचं	निष्प्रपंचं
६०	१३	त्रीएयाक्षराणि	त्रीण्यक्षराणि
६६	१६	युगा	युगों
१०५	१८	हा	ही



ॐ श्री गुरवेनमः

पूर्वाख्यान ।



कहा गया है कि "स्तोत्रं कस्य न तुष्टये" अर्थात् स्तोत्र से सब प्रसन्न होते हैं। जो आत्माराम है, जिनकी सब इच्छायें पूर्ण हो चुकी हैं उनको हम किसी भौतिक पदार्थ को प्रदान कर प्रसन्न नहीं कर सकते। ऐसे ईश्वर कोटि के जनों को, और तदनुकूल साक्षात् ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये केवल मात्र एक मार्ग प्रार्थना ही है और प्रार्थना का सर्वं श्रेष्ठ रूप स्तोत्र है। इसमें कोई यह शंका न करे कि ईश्वर आत्मप्रशंसा का लोलुप प्रतीत होता है। साधारण जनों की इस सामान्यवृत्ति को लोग खुशामद खोरी कहकर निंदित किया करते हैं और खुशामद खोरी इससे भी अधिक निंदा की पात्र है। जो लोग खुशामद से आमद करते हैं वे स्वयं भी एक बड़े जघन्य जीव होते हैं। फिर यही दोष इन स्तोत्रों के विषय में क्यों नहीं लागू होता ? इसका समाधान इस प्रकार है।

जितने भी स्तोत्र हैं, और वे लाखों की संख्या में हैं, परब्रह्मपरमात्मा से लेकर छोटे से छोटे देवताओं के संबन्ध में भी स्तोत्र उपलब्ध हैं, उन सब स्तोत्रों में एक गुण सामान्य है अर्थात् यह कि स्तोत्र किसी भी देवता का क्यों न हो सामान्य गणना में उस देवता का पद कैसा ही ऊंचा या नीचा क्यों न हो, परन्तु उस स्तोत्र में वह ब्रह्म भाव ही से वर्णन किया गया होगा। उस स्तोत्र में संसार का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता वही माना गया होगा, उस स्तोत्र में उससे बढ़कर कोई अन्य देवी या देवता की सत्ता नहीं मानी गई होगी। ऐसा करने से इष्टदेव तत्क्षण ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगता है और इष्ट का देहाध्यास या सगुण भाव थोड़ी देर के लिये नष्ट सा हो जाता है। इष्ट व्युत्थानावस्था से ब्रह्मसमाधिष्ठ हो जाता है, उसको आत्मस्मृति हो उठती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इष्ट अज्ञानी होता है और

स्तोत्र द्वारा उसको ज्ञानोपदेश या आत्मबोध कराया जाता है। जैसे किसी कला या शास्त्र में प्रवीण गुणी या पंडितजन किसी अपने से छोटे में उसी कला या शास्त्र का उत्तम प्रयोग बोध या ज्ञान पाकर अंदर से पसीज उठता है। जैसे सत्संग में ब्रह्मस्वरूप महात्मा लोग भी भक्तजनों की शंका समाधान करते और उनकी निष्कपट शंकाओं को सुनते २ आत्मलीन हो जाते हैं तद्वत् स्तोत्रों के द्वारा इष्ट और भक्त दोनों के अंतःकरणो में ब्रह्म भाव आविर्भूत होता है। ब्रह्म ही सबका फल दाता है। भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं कि लोग अन्य देवताओं को भी भजते हैं परन्तु उन भक्तों की श्रद्धानुसार फलदाता मैं ही हूं।

अब इसके विपरीत खुशामद खोरी और खुशामद से आमद में यह स्थिति रहती है कि खुशामद करने वाला पूर्ण रीति से यह विश्वास करता है कि जिस पदार्थ को हम खुशामद द्वारा लेना चाहते हैं उस पदार्थ पर प्रभुका भी प्रेम वैसा ही है परन्तु वह समझता है कि खुशामद की गुदगुदी में आकर प्रभु थोड़ी देर के लिये अपने स्वार्थ को भूलकर हमारा स्वार्थ साध देगें। इस तरह जैसे कोई नशा पिला कर किसी को ठगे उसही भांति खुशामद् करने वाला वाणी का नशा पिलाकर अपने प्रभु का धनमान हरण करता है। खुशामद करने वाला अपने प्रभु को देहरूप देखता है, यह भी जानता है कि जैसी प्रशंसा हम कर रहे हैं उसके एक अंश के भी योग्य इनमें गुण नहीं है परन्तु तब भी स्वार्थवश वाणी का हनन कर झूंठ बोलता चला जाता है। उसका प्रभु भी मूर्ख होने के कारण थोड़ी देर के लिये अपने उन कष्टों को भूल जाता है कि जिन कष्टों के द्वारा उसने उन पदार्थों का उपार्जन किया था और जो कष्ट उसे उन पदार्थों को खोकर पुनः उठाने पड़ेंगे। मूर्खता की झोंक में आ वह अपने परिमित सामर्थ्य की सुध भूल जाता है और कौवे की तरह गाना गाने के उद्योग में "कांव" निकालते ही टोंट की रोटी गिरा देता है और खुशामदी लोमड़ी उस रोटी को ले जब हवा होने लगती है तब पीछे फिर कर देखती भी नहीं कि कौवे महराज की क्या दशा है।

ईश्वर ने सब जगत् लीला से उत्पन्न किया है अतएव उसकी अनुग्रह के द्वारा जो प्राप्ति होती है उसके लिये उसको कोई प्रयास नहीं होता। स्तोत्र रचने वाला अपने इष्ट को ब्रह्म भाव से अनुभव करने के कारण यह भी पूर्ण रीति से जानता है कि हमारा सर्व वाग्विभव हमारे इष्ट के गुणों और महिमाओं के एक अंश का भी यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। इस अनंतता को भीतर बाहर अनुभव करता हुआ वह स्तुति करने वाला भी तत्क्षण देहाध्यास से छूट सविकल्प समाधिष्ठ हो जाता है। यह उच्चावस्थाही उसकी सफलता का कारण होती

है। 'सचराचर रूपराशि भगवंत' और 'सियाराम मय सब जग जानी' वाली अवस्था ही का नाम स्तोत्र भक्ति है। किसी इष्ट की स्तुति का यह भाव कदापि नहीं होता कि वह दशरथात्मज मात्र है या देवकीनन्दन ही है। स्तुति द्वारा यह प्रकट किया जाता है कि वह जो प्रत्यक्ष में दशरथ का पुत्र सा या देवकी का सूनु सा देहरूप प्रतीत हो रहा है वह वास्तव में यह भ्रांत प्रतीतिमात्र न होकर साक्षात् परमात्मा ही है। अर्थात् भक्त और इष्ट दोनों की देह भ्रांति जिसके द्वारा नाश होती है और जिस क्रिया के द्वारा दोनों देहाध्यास को त्याग आत्माराम हो जाते हैं उसका नाम स्तोत्र है।

... ...

ऐसा कहा जाता है कि पुष्पदन्त नामक कोई गंधर्वराज किसी राजा के उद्यान से नित्य पुष्प तोड़ लिया करते थे। राजा ने चोर पकड़ने का बहुत उद्योग किया परन्तु वह सफल न हुआ। अन्त में उसने यह निश्चय किया कि निश्चय वह चोर कोई साधारण चोर नहीं हो सकता अन्यथा इतने प्रबन्ध करने पर वह निश्चय पकड़ा जाता। राजा ने यह भी अनुमान किया कि स्यात् चोर में अंतर्धानादि शक्तियाँ हैं। राजा ने अपनी वाटिका में शिव जी पर चढ़े हुए पुष्प और माला इत्यादि इस विचार से फैला दीं कि यदि अज्ञानवश चोर इनको लांघ जायगा तो कुंठित शक्ति हो जाने से पकड़ा जायगा। जैसा राजा ने सोचा था वैसा ही हुआ और श्री पुष्पदंत जी शक्ति रहित हो गए। ध्यान करने पर वह यह भी जान गये कि किस कारण उनकी यह दुर्दशा हुई है। अपनी शक्ति को पुनर्वार प्राप्त करने के लिये उन्होंने इस जगत्प्रसिद्ध शिव स्तोत्र की रचना की कि जिसके पद लालित्य और अर्थ गांभीर्य की तुलना मिलना कठिन है। न जाने किस समय से यह स्तोत्र शिव भक्तों को प्राणप्रिय हो रहा है, और न जाने कितनों को यह शिवभक्ति प्रदान कर चुका है, कर रहा है, और करता रहेगा। इस स्तोत्र की भाषा अत्यन्त कठिन और भाव अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और दुरूह हैं। इस स्तोत्र पर मधुसूदन स्वामी ने संस्कृत में एक अत्यन्त सुन्दर टीका रची है। परंतु वह टीका भी साधारण लोगों के लिये सरल नहीं है। हिंदी अर्थ इस स्तोत्र के बहुत से मिलते हैं परंतु उनमें सबमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उनके द्वारा स्तोत्र की भाषाके शब्दार्थ और भावार्थ स्पष्ट नहीं होते और भक्त जनों को उन भाषार्थ पढ़ने के उपरांत भी यह बोध नहीं होता कि मानो वे स्तोत्र के भाव और अर्थ को हृदयंगम कर सके हैं। भक्तजनों के इस कष्ट का अनुभव कर निम्न उद्योग किया जा रहा है, यदि मैं कुछ सफल हो सका तो सोने में सुगंध पड़ जायगी अन्यथा जितना समय इस रचना में लगेगा वह शिव जी के गुणानुवाद में लगे होने के कारण स्वान्तः सुखाय तो होही गा।

इस भाष्य में प्रथम संधि रहित संस्कृत अन्वय, तदुपरांत सरल संस्कृतार्थ किया जायगा। उसके नीचे श्लोकों का हिंदी भाषा में सरलार्थ फिर भावार्थ तदुपरांत कठिन शब्दार्थ आदि दिया जायगा। इतने से पूर्ण आशा है कि श्लोकों का भावार्थ और पदार्थ भक्तों को सुगम हो जायगा। श्लोकों में जो शब्द या भाव अधिक गंभीर अर्थ वाले प्रतीत होंगे उन पर अलग स्वतंत्र भाष्य दिया जायगा। इत्यलम्।



* ॐ नमः शिवाय *



वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यस्य भ्रूक्षेपमात्रेण जीवस्तृप्यत्यथात्मदृक् ॥
श्रीराधापादपद्मस्य मत्तं मधुलिहं सदा ।
अंतर्ध्वान्तविनाशाय कृष्णं वंदे जगद्गुरुम् ॥
सुदामाजन्मदारिद्र्यं हृत्वा तृप्तिमियाय नो ।
उन्मूलयिष्यन्दारिद्र्यं रमया वारितो ह्यसौ ॥
तस्याहं शरणं याचे भवदुःखविदारितः ।
भवैकदुःखनाशाय कृपालोश्च रमापतेः ॥
ध्यात्वा सरस्वतीं देवीं स्मृत्वा चैव विनायकम् ।
तनोमि ललितां टीकां महिम्नः शंकरप्रियाम् ॥
क्व महिम्नो गभीरार्थः क्व मेऽल्पविषया मतिः ।
भक्तेर्विवशचित्तो हि सहिष्य उपहास्यताम् ॥
सज्जनाः शिवभक्ताश्च विद्वांसश्च विमत्सराः ।
बालोचितामिमां वाणीं तथा मत्वा पठन्तु वै ॥

जानन्तु नाम किमपि तान्प्रति नैषयत्नो,
मूढाश्च ये ते तृप्तास्स्वपन्ति ।
भवाब्धिमध्ये परितप्यमानास्ते,
वै चिकित्स्याः सुहृदश्च ते मे॥

इह खलु निजमहिम्नो भ्रष्टो महादेवस्य परमभक्तः कुसुमदशननामा सर्वगंधर्वराजः स्वलुप्तशक्तेः पुनरधिगमाय देवाधिदेवंशिवमेवं स्तोतुमारभते ।

पुष्पदन्त उवाच—

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी,
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः ।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधिगृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥१

अन्वयः–(हे) हर ! ते महिम्नः परं पारं अविदुषः (मम) स्तुतिः यदि असदृशी तद् ब्रह्मादीनाम् अपि गिरः त्वयि अवसन्नाः (एव) अथ स्वमतिपरिणामावधिगृणन् सर्वः (अपि) अवाच्यः । ममापि एषः परिकरः स्तोत्रे निरपवादः (भवतु) ।

संस्कृतार्थः–हे शिव ! तवैश्वर्यस्यात्यान्तिकावधिमजानतो मम तव गुणकथनं यद्यननुरूपं तर्हि ब्रह्मादीनामपि सर्वज्ञानां तव गुणकथनरूपा गिरः त्वद्विषये निःप्रचाराः सत्यो जडीभूतास्स्तंभिता एव । एवं भूते सति स्वबुद्धिवाग्विभवानुकूलं त्वद्गुणान् वर्णयन् सर्वोजनोऽनुपालंभनीय एव । सर्वे त्वद्भक्ताः "नभः पतन्त्यात्मसमम् पतत्रिणः" इति न्यायेन तव गुणकथने प्राप्तावसरा एवेति । ममाप्येष प्रारम्भस्तव गुणकथनविषयेऽखंडनीयो निर्विघ्नश्च त्वत्प्रसादाद् भवतु ।

भाषार्थ–हे शिव जी आपकी महिमा की परमावधि को न जानते हुए यदि मेरी ये स्तुति अनुचित है तो फिर सर्वज्ञ ब्रह्मा इत्यादि लोगों की वाणी भी तो पूर्व आप में थक चुकी है। ऐसी अवस्था में अपनी बुद्धिसामर्थ्यानुकूल स्तुति करने वाले पर (असदृशता का) कोई दोष नहीं लगाया जा सकता । हमारा भी आपके स्तोत्र में ये प्रारम्भ या उद्योग (आपकी दया से) अखंड और निर्विघ्न हो ।

भावार्थ–हे शिव जी आपकी महिमा को नितान्त न जानने के कारण यदि मेरी ये स्तुति अनुचित सी प्रतीत होती हो तो ब्रह्मा इत्यादि जो सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा की हुई स्तुति भी तो आपके ऐश्वर्य के बराबर नहीं ठहरती अर्थात् उन लोगों की कि जो वाणी के प्रभव हैं, अधिष्ठाता हैं, गुरू हैं उनकी वाणी भी तो आपका गुणानुवाद करती२ थक जातीहैं और अन्त नहीं पाती हैं। जब ऐसे सर्वज्ञों की वाणी भी आपकी महिमा कहने में असमर्थ ही है तब फिर असमर्थता और अननुकूलता केदोष तो अन्य सब पर लागू होहींगे। तो फिर क्या अन्य लोग ऐसे दोष के भय से कि जिससे बचनेका कोई चारा नहीं, आपकी स्तुति करना ही छोड़ दे। यदि ऐसा नहीं तो फिर सत्य तो ये प्रतीत होता है कि जैसे आकाश में पक्षी अपने सामर्थ्यानुकूल उड़ा करते हैं परन्तु इससे वे कुछ आकाश का आदि अन्त नहीं पा जाते इसही तरह अन्य जन भी इच्छा होने पर आपकी स्तुति अपनी बुद्धि और वाग्विभवानुकूल कर सकते हैं इसके लिये उन्हें किसी प्रकार दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दोषी तो वे उस अवस्था में हो सकते थे जबकि आपकी महिमा के सदृश किसी के द्वारा की हुई कोई स्तुति उपस्थित होती और उस योग्य स्तुति को त्याग कर आत्माभिमान वश अपनी बनाई स्तुति द्वारा स्तुति कर आपका अपमान करते। जब ऐसा नहीं है जब आपकी स्तुति करने में सबही की वाणी थक चुकी है (फेल हो चुकी है) तब तो हांथ पर हांथ रख बैठे रहने से अच्छा यही प्रतीत होता है कि जैसा और जिस प्रकार का आपका गुणानुवाद हो सके उसको लज्जा और संकोच का भाव त्याग अपनी वाणी सफल करने के लिये करे। क्योंकि भागवतकार का कथन है "सा वाग्यया तस्य गुणान्गृणीते करौच तत्कर्मकरौ मनश्च। जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगा-यत्युरुगायगाथाः" ॥ हे सूत वही वाणी सफल है जो उनके गुण गाती है। वही हांथ सफल है जो उनके लिये कर्म करते हैं। वही मन है जो उनका मनन करता है। जो जिह्वा विष्णु भगवान की कथा नहीं गाती वह मेढक की जिह्वा की भांति असत् है अर्थात् व्यर्थ है। अतएव हे दयालु शंकरजी आप ऐसी दया करें कि यह प्रारम्भ निर्विघ्न समाप्त हो और सफल हो।

महिम्नः:–यहां महिमा से तात्पर्य भगवत् की अघटितघटनापटीयसी अनिर्वचनीया अतर्क्यैश्वर्या माया से है। उसका आदि अन्त नहीं है। 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई सो सब माया जानेहु भाई'। मन और बुद्धि आदि माया

जन्य होने के कारण अपनी पैदा करने वाली माया का आदि अन्त कभी नहीं जान सकते ।

परंपारम् :—परंपारम् कह कर यह भाव दिखाया है कि थोड़ा बहुत तो सब जानते हैं परन्तु संपूर्णतया कोई नहीं जानते । जैसे नौका आदि समुद्र को पार करने वाली कही जाती है उसही भांति भगवद्भक्त ईश्वर के गुणों का अवगाहन किया करते हैं । परन्तु जिस भांति कितना ही बड़ा जलयान क्यों नहो वह समुद्र के संपूर्ण विभव का ज्ञाता नहीं हो सकता उसही भांति कोई भी ईश्वर की इयत्ता या ईदृक्ता का ज्ञाता नहीं हो सकता ।

ब्रह्मादीनाम् :—ब्रह्मा वाणी के गुरू है, पिता हैं, पैदा करने वाले हैं । वेद उनके मुख हैं जब ऐसे ब्रह्मा भी हार चुके तब अन्य किसी की बात चलाना ही व्यर्थ है ।

अवसन्नाः :—थक कर बैठ गई । जैसे कोई भोग भोगते २ थक जाय परन्तु भोगों का अन्त न हो और तब विवश हो भोग विमुख हो जाय इसही भांति । लोग अप्रिय और निष्फल कर्म से तुरन्त ऊब उठते हैं । यहां पर ऐसा तात्पर्य नहीं है । 'दिने दिने यत् नवतामुपैति तदेवरूपम् रमणीयतायाः ।' भगवत् के गुण ऐसे ही दिने दिने नवम् नवम् होने पर भी अपनी अनंतता और सर्वांगीणता के कारण वाणी के विभव को छकाही डालते हैं । हृदय में जब भगवत् भाव का समुद्र उमड़ आता है तब वाणी कहीं उसका एक बूंद कह पाती है । ऐसे बूंदों से भरे समुद्र के एक बूंदका रसास्वादन कहीं जब भाग्यवश साधक-मुमुक्षु के मुखमें पड़ जाता है तब उसके हृदयरूपी सीपमें फिर मोती पैदा होने लगते हैं । जितना ही अधिक हृदय अनुभव करता है उतना ही कम वाणी कह पाती है । लिखने और छपाने की तो बात ही कौन चलावे ।

स्वमतिपरिणामावधि :—स्वस्य मतिः बुद्धिः स्वमतिः तस्याः परिणामश अवस्थांतरतापत्तिः विपाकः वा स्वमतिपरिणामः स्वमतिपरिणामोऽवधिः सीमा यत्र इति क्रियाविशेषणम् ॥ दूधका परिणाम दही है इस भांति बुद्धि जितने रूप रख सकती है वे सब बुद्धि परिणाम हैं । योगशास्त्र में उनको प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति नाम दिये हैं । अर्थात् बुद्धि की जहाँ तक दौड़ है वहाँ तक

... ...

अतीतः पंथानं तव च महिमा वाङ्मनसयो
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥२॥

अन्वयः-(हेहर) तव च महिमा वाङ्मनसयोः पन्थानम् अतीतः । श्रुतिः अपि यं (महिमानम्) अतद्व्यावृत्त्या चकितम् अभिधत्ते । सः कस्य स्तोतव्यः, कतिविधगुणः कस्य विषयः (किंतु) अर्वाचीने तु पदे कस्य मनः वचः (च) न पतति ।

संस्कृतार्थ :—हेहर ! त्वदीयं माहात्म्यं वक्तुं ध्यातुं च न शक्यते । वाङ्मनसयोर्विषयातिक्रान्तत्वात् । अपौरुषेया श्रुतिरपि त्वन्महिमानमनतुरूप-कथनशंकया सभीतमभेदवाक्येन प्रतिपादयति । एतादृशं निरवध्यैश्वर्यं त्वां स्तोतुं कः समर्थः स्यात् । भवतां गुणान् गणयितुं कः प्रभवेत् । एकादशेन्द्रियाणां मध्ये किन्वर्हति विषयीकर्तुं भवद्गुणम् । परंतु नवीने रमणीये रूपे सर्वेषाम् रसिकानां विद्वज्जनानां मनांसि वाण्यश्च विशन्त्येव । मननकथनासमर्थाप्यनुपम-सौंदर्यवशीकृता मनोवृत्तिश्च वाणी च त्वत्पादयुगुले लुठत्येव ।

भाषार्थ :—हे शिवजी ! आपकी महिमा मन और वाणी के मनन और कथन सामर्थ्य के परे है । वेद भगवान भी डरते २ आपकी महिमा को अभेदार्थ महावाक्यों द्वारा प्रतिपादित करते हैं । ऐसे आप भला किस प्रकार स्तुति किये जा सकते हो । कौन आपके गुण गिना सकता है । कौन इन्द्रिय आपको अपना विषय कह सकती है । यह सब सच होने पर भी कौनऐसा है जिसकी मनोवृत्ति या वाणी आपके इस नवीन स्वरूप में फंस न जाती हो ।

भावार्थ :—हे शिवजी ! आपकी महिमा मन और वाणी के अगम है । श्रुति कहती है 'यतोवाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' और भी 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते...... । यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्...... । अर्थात् मन सहित वाणी जिसे न पाकर लौट पड़ती है । जो आज तक वाणी द्वारा प्रकट नहीं हो सका परंतु वाणी को जिसने प्रकट किया, जो आज तक मन द्वारा सोचा

नहीं जा सका परंतु मनमें जिसने मनन सामर्थ्य उत्पन्न की। ऐसे आपकी महिमा, हे शिवजी ! श्रुति भगवती भी डर डर कर ही महावाक्यों द्वारा प्रकट करती है। अर्थात् श्रुति भी इस बात का दावा नहीं करती कि मैं कथन करने में सर्वथा समर्थ हूँ। ऐसे आपकी स्तुति भला क्या समुचित रीति से की जा सकती है अर्थात् नहीं की जा सकती। आपके गुण कौन गिना सकता है क्योंकि 'नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप' ऐसा कथन तो आप स्वयं ही इस भांति के प्रयास के संबंध में कर चुके हैं। जब आपही अपनी विभूतियां नहीं गिना सकते तो फिर दूसरे किसी जीव की बात ही कौन चलावे। हे शिवजी हर एक इन्द्रियों का विषय नियत है। हर एक इन्द्रिय अपने विषय को ही प्रकाशित करती है। परंतु आपतो विषय पदार्थ नहीं हैं कि आपको कोई इन्द्रिय प्रकाशित कर सके। आपतो स्वयं इन्द्रियों के प्रकाशक हैं फिर आप इन्द्रियों के विषय कैसे हो सकते हैं। "विषयकरण सुरजीव समेता। सकल एकते एक सचेता॥ सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ "विज्ञा-तारमरे केन वा विजानीयात्," अरे विज्ञाता को कौन भला काहे से जाने। सूर्यको कौन दीपक ले ढूढ़े। हे शिवजी यह झगड़ा तो आपने तबही तय कर दिया था जब आपने स्वयं इस पुर में इन्द्रियों के मार्ग द्वारा न घुस कर अपने लिये विदृतिनाम का एक नया मार्ग काट निकाला। भला सेवकों की राह स्वामी कब आ सकता है। अतएव हे शिवजी आप इन्द्रियों का विषय कदापि नहीं हैं। आपके विषय में तो स्वानुभूति ही एक मान है। 'वेत्थात्मानमात्मना' आत्मा को आत्मा से जानो। परंतु यह सब सच होते हुये भी 'इत्थंभूतगुणो हरिः' आप ऐसे अलौकिक सौंदर्यवाले हो कि रसिकों का मन वरवश आपके चरणों में लोटा ही करता है।

अतद्व्यावृत्त्या:—सगुणपक्षे—तत्तः ब्रह्म तः व्यावृत्तिः विभेदः तद्व्यावृत्तिः नतद्व्यावृत्तिः अतद्व्यावृत्तिः अभेदः तया अतद्व्यावृत्त्या। निर्गुणपक्षे —न तत् न ब्रह्म अतत् मायेति। अविद्या तत्कार्यात्मकमुपाधिद्वयमिति यावत्। अतत्तः व्यावृत्या परित्यागेन अतद्व्यावृत्त्या जहदजहल्लक्षणयेत्यर्थः। अर्थात् सगुण पक्षमे, तत् पद ब्रह्म का सूचक है, व्यावृत्ति नाम भेद करने या हटने या लौटने का है। तद्व्यावृत्ति के अर्थ हुये ब्रह्म से भिन्नता, अतद्व्यावृत्ति के अर्थ हुए ब्रह्म से अभिन्न अर्थात् ब्रह्म रूप। इस भांति श्रुति कहती है 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' 'सर्वकर्मा, सर्वकामः'। यह जो

कुछ प्रत्यक्ष है सब परमार्थ रूप में ब्रह्म ही है। यहां पर अभेद द्वारा श्रुति सर्वत्र ब्रह्मदर्शन कराती है। पुराणों में भी 'कृष्णस्तुभगवान् स्वयम्' आदि वाक्य इसही भांति प्रत्यक्ष सावयव, कृष्ण भगवान को परब्रह्म प्रमाणित करते हैं। निर्गुण पक्ष में समास दूसरी भांति टूटेगा। न तत् अतत् अर्थात् जो ब्रह्म नहीं है अर्थात् जो माया है। व्यावृत्ति के अर्थ होंगे परित्याग। अतएव अतद्व्यावृत्ति के अर्थ होंगे मायिक अंश का परित्याग। "तत्वमसि" महावाक्य के अर्थ सिद्ध करने में इस जहद्जहल्लक्षणावृत्ति से काम निकाला जाता है। इसही को भाग त्याग लक्षणा भी कहते हैं।

शब्द सामर्थ्य तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् वक्ता का मनोभाव शब्दों द्वारा तीन विधि से प्रकट होता है—(१) वाच्यार्थ (२) व्यंग्य और (३) लक्षणा। "अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः। वाच्योऽथोऽभि-धया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः। व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः"॥ शब्द शक्ति तीन प्रकार की होती है अर्थात् वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य। जब शब्द समूह अपने साधारण और स्वाभाविक अर्थ को प्रकट करे तो उसे वाच्यार्थ कहते हैं जैसे लड़का दौड़ता है। जब शब्द समूह अपने स्वाभाविक अर्थ के विपरीत अर्थ प्रकट करे तो उसे व्यंग्य कहते हैं जैसे आपतो बड़े भले आदमी हैं। इसके स्वाभाविक अर्थ के विपरीत यह अर्थ हैं कि आप वास्तव में दुष्ट हैं। जब शब्द समूह न स्वाभाविक और न विपरीत अर्थ प्रकट करके सांकेतिक अर्थ प्रकट करे तो उसे लक्षणावृत्ति कहते हैं।

लक्षणावृत्ति तीन प्रकार की होती है (१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा (३) और जहदजहल्लक्षणा इति। जहल्लक्षणा में वाच्यार्थ का पूर्ण त्याग और सांकेतिक अर्थ का पूर्ण ग्रहण होता है जैसे गंगायां घोषः। इस वाक्य का वाच्यार्थ होता है गंगा में घोषियों का गांव; परन्तु यह प्रत्यक्ष है कि गंगा के जल प्रवाह के ऊपर कोई गांव बस नहीं सकता अतएव इसके वाच्यार्थ सार्थक नहीं। इसके लक्षणा द्वारा अर्थ करने होंगे अर्थात् गंगा के किनारे घोषियों के घर हैं। यहां गंगा का पूर्णतया त्याग करके उसके विपरीत स्वभाव वाले, जल के स्थान पर गंगा के किनारे वाले स्थल का ग्रहण हुआ अतएव इसे जहल्लक्षणा कहते हैं क्योंकि इसमें वाच्यार्थ का पूर्ण त्याग ही है। जब वाच्यार्थ का त्याग न करके उसमें और अधिक अर्थ जोड़ा जाय तो उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं

जैसे काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् अर्थात् कौवों से दही बचाया जाय। यहां कहने वाले का तात्पर्य यह नहीं है कि दधि केवल कौओं ही से बचाया जाय परन्तु यदि मार्जारादि अन्य जीव आवें तो उन्हें न रोका जाय। कहने वाले का अभिप्राय यहां यह है कि दही की रक्षा सब दही खा जाने वाले जीवों से की जाय जैसे कौवा इत्यादि। यहां काक के अर्थ का त्याग न कर अन्य बहुत से जीवों का भी ग्रहण हो जाने से यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। यहां पर ये वाक्य वाच्य और व्यंग्य क्यों नहीं हैं यह भावविज्ञ पाठक स्वयम् सोचलें।

जहदजहल्लक्षणा या भागत्यागलक्षणा वह है जहां विशेषणों का त्याग किया जाता है परन्तु विशेष्य का त्याग नहीं किया जाता जैसे सोऽयं देवदत्तः अर्थात् यह वही देवदत्त है। यहां पर किसी पुरुष विशेष ने किसी मनुष्य को काशी में खूब हृष्ट पुष्ट और खूब आभूषण पहिने देखा और उसको देवदत्त नाम करके जाना। बाद को कालांतर में उसही पुरुष ने उसही पुरुष को प्रयाग में बड़ा दुर्बल और वस्त्र आभूषण हीन देख कर कहा अरे यह तो वही देवदत्त है। यहां पर वही देवदत्त कहने से संकेत यही है कि जिसे कभी मैंने वैसी विशिष्ट अवस्थाओं में देखा था आज उसही को उन विशिष्ट अवस्थाओं से हीन देख रहा हूँ। परन्तु उन विशिष्टताओं में भेद होने पर भी विशेष्य जो देवदत्त है वह वही है उसमें भेद नहीं। यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसे भाग त्याग इस कारण कहते हैं, क्योंकि इसमें एक अंश अर्थात् विशेषण का त्याग किया जाता है और एक अंश अर्थात् विशेष्य नहीं त्यागा जाता।

इस वृत्ति की पूर्ण महिमा "तत्वमसि" महावाक्य की सिद्धि में प्रकट होती है। चारों वेदों के चार महावाक्य हैं अर्थात् "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह ऋगवेद का, "अहं ब्रह्मास्मि" यह यजुर्वेद का, 'तत्वमसि' यह सामवेद का और "अयमात्मा ब्रह्म" यह अथर्वण वेद का महावाक्य है। अन्य शब्द समूह भौतिक और सांसारिक भावों को प्रकट करने के कारण वाक्य संज्ञा पाते हैं परन्तु उपरोक्त शब्द समूह जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप और उनका आंतरिक सम्बन्ध निर्णय करने के हेतु महावाक्य संज्ञा पाते हैं। इन उपरोक्त वाक्यों में "तत्वमसि" वाक्य गुरुशिष्योपदेश महावाक्य है अर्थात् इस महामंत्र के द्वारा गुरु शिष्य को ब्रह्मोपदेश करता है और उसमें आत्मा परमात्मा के ऐक्य का प्रकाश डालता है। "अहंब्रह्मास्मि" जिसकी वृत्ति 'सोऽहमस्मि" है अनुभव वाक्य कहा जाता है

और 'सोऽहमस्मि' का अन्य नाम अजपाजाप भी है। इसही भांति अन्य महावाक्यों की भी विशेषताएं गौरव पूर्ण है। हम यहां केवल "तत्वमसि" वाक्य के अर्थ को सिद्ध कर जहदजहल्लक्षणा का स्वरूप प्रदर्शित करेंगे।

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्। सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥ ५,५ पंचदशी॥ श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्। एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥ ६,५, पंचदशी॥ उस एक अद्वितीय नाम रूपविवर्जित सत् को कि जो जैसा सृष्टि के पूर्व था वैसा ही अब भी बना हुआ है, तत्पद कहते हैं। (इस महावाक्य के) सुनने वाले की देह और इन्द्रियों से परे जो चैतन्य सत्ता है उसे त्वम्पद कहते हैं। असिपद से दोनों की एकता ग्रहण की जाती है। इस एकता का अनुभव करो। अर्थात् सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर तत्पद बाची है और अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव त्वंपद वाची है। इन दोनों का सामानाधिकरण्य नामक ऐक्य असिपद ग्राह्य है। ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है और अप्रत्यक्ष है और जीव ठीक इसके विपरीत अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान और प्रत्यक्ष है। ऐसी प्रत्यक्ष में विरोधी, अन्यदेशीय, और भिन्नप्रवृत्तिनिमित्त वाली दो सत्ताओं को "तू वही है" इस महावाक्य द्वारा एक कहकर निश्चय ही कथन करने वाले ने भूल की है ऐसा अर्थ प्रतीत सा होता है यदि इस वाक्य का वाच्य मात्र अर्थ यहां ग्रहण किया जाय। परंतु यदि यह निर्णय हमारा पक्का है कि कहने वाला निर्भ्रान्त आप्त पुरुष है तो निश्चय करके हमारे समझने की त्रुटि है अर्थात् वाच्यार्थ यहां पर त्याज्य है। व्यंग्यार्थ को यहां कोई अवकाश नहीं क्योंकि गुरुशिष्योपदेश अवसर है। तब फिर बची लक्षणावृत्ति यदि इस वृत्ति के द्वारा इस वाक्य के अर्थ निकल आवें तो ठीक अन्यथा वाक्य ही निरर्थक सा प्रतीत होता है।

अच्छा जहल्लक्षणा से अर्थ करो। गंगा में अहीरों का घर है इस वाक्य में गंगा का सम्पूर्णतया त्याग करके गंगा से भिन्न स्वभाव वाले गंगातटका अर्थ किया जा चुका है। उसही भांति यहां तत्पद का वाच्यार्थ त्याग उससे भिन्न स्वभाव वाले किसी ईश्वर सन्निकट वासी अल्पसमर्थी, अल्पज्ञ का अर्थ क्या ग्रहण किया जाय? ऐसा करने पर वाक्यार्थ होगा कि हे जीव तू एक निरा अल्पज्ञ अल्पसमर्थी तत्पद है। ऐसा तो जीव अपने को पहिले भी मानता था

और उसकी ऐसी धारणा ही उसको रोग प्रतीत होती थी जिससे बचने के लिये उसने गुरु किया था। यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसे कोई वैद्य किसी रोगी से कहे कि लीजिये यह दवा देते हैं इसका सेवन करो इससे तुम्हारा रोग पूर्ववत् वैसा ही बना रहेगा कारण कि रोगी ही रहना तुम्हारा सत्स्वरूप है। तो इसका साधारण उत्तर रोगी यही दे सकता है कि यद्यपि हम यह तो निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि हम रोग मुक्त होंगे कि नहीं (कारण कि अज्ञान में हैं) परंतु इतना निश्चय है कि आपकी औषध देने की क्रिया नितान्त व्यर्थ है और स्यात् केवल स्वार्थपूर्ण है। निश्चित हुआ कि इस वृत्ति के द्वारा महावाक्य का कोई सार्थक अर्थ प्रतीत नहीं होता।

अच्छा अजहल्लक्षणा लो। इसमें वाच्यार्थ को न त्यागते हुए और भी समान अर्थ ग्रहण कर लिये जाते हैं। तो जैसा ऊपर दिखाया है जब वाच्यार्थ ही सार्थक नहीं तो उससे अधिक अर्थ लेकर क्या सार्थकता होना संभव है। जो कौवे ही से न बचा सकेगा वह बिल्ली से क्या दही सुरक्षित कर सकेगा, जो कौवे ही को न पहिचानता होगा वह कौवे की भांति अन्य दधि-भक्षक जीवों की क्या गति रुचि पहिचान सकेगा। अतः इस वृत्ति से भी कोई सार्थक अर्थ नहीं निकलता।

अब बचो जहद्जहल्लक्षणा या भागत्यागलक्षणा। यहां विशेषणों का त्याग और विशेष्यों का सामानाधिकरण्य ग्रहण होगा। अब सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमतत्व, परोक्षत्व आदि विशेषण धर्म तो तत्पद के हैं और अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तिमतत्व, अपरोक्षत्वादि विशेषण धर्म त्वंपदके हैं। ये ही विशेषण परस्पर विरोधी होने के कारण असिपद द्वारा ग्रहणीय ऐक्यार्थ में विरोधाभास उत्पन्न करके महावाक्य को निरर्थक सा बनाते हुए प्रतीत होते हैं। जहद्जहल्लक्षणा द्वारा भाग त्याग करके अर्थ करो। दोनों पदों के विशेषणों को गिरा दो तो तत् की तत्ता और त्वं की त्वत्ता का असिपद में समावेश हो जाता है क्योंकि दोनों पदों में व्यावर्तक कुछ रह नहीं जाता। यदि तत्पद की सर्वज्ञतादि त्यागी जाती परन्तु त्वं पद की अल्पज्ञतादि न त्यागी जाती तब भी दोनों पदों का असि मे समावेश न होता कारण कि सर्वज्ञता रहित तत् के लिए यह नितान्त आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतया अल्पज्ञ त्वं ही निकले। इसही भांति त्वं पद में भी जानो। परन्तु जब दोनों ही के विशेषण हट गये तबतो तत् त्वम् पद तत्वं मात्र है अर्थात् असि

पद में एक होकर असि मात्र उपलब्ध हुआ। यहां विशेषण अर्थात् उपाधिरूप असत् मायिकांश भ्रमवत् नष्ट हो करके ब्रह्मरूप सत्य तत्वांश शुद्धमेकाद्वितीयं होकर प्रकट हो गया। विशेषण या उपाधियां ही मायाकृत देशकालजन्य सृष्टि रूप है और उनसे परे या रहित तत्व ही ब्रह्मपद है। ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या इत्यादि। सत्यका नाश नही मिथ्या का आभास नहीं। विषय अत्यन्त कठिन है, यथा शक्ति सरल किया गया है। नवोढ़ों को इसमें अनेक शंकाएं हो सकती है परन्तु गुरु द्वारा समाधान संभव है। अतएव शंकाओं का आप्त पुरुषों द्वारा समाधान कराए जाने की प्रार्थना है। अतिविस्तार भयेन इस विषय की यहीं समाप्ति की जाती है।

... ...

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥ ३

अन्वयः :—(हे) ब्रह्मन्! मधुस्फीताः वाचः, परमम् अमृतम् निर्मितवतः तव, सुरगुरोः वाक् अपि किम् विस्मयपदम्। (हे) पुरमथन! भवतः गुणकथन-पुण्येन एताम् वाणीम् पुनामि इति अस्मिन् अर्थे मम तु बुद्धिः व्यवसिता॥

संस्कृतार्थ :—हे विभो! माधुर्यादिशब्दगुणालङ्कारपरिपूर्णामंतर्बहिश्च मधुररसमयीमत्यस्ताभयपदप्रदायिनीं परमपुरुषार्थरूपां वेदवाणीमनायासेन निःश्वासवदाविर्भावितवतो रचयतो वा भवतो जगदुपरिवर्तमानस्य सृष्टिनिर्माणकारणस्य चतुर्वदनस्य ब्रह्मणोऽपि स्तुतिः किं चमत्कारकारणम्? न भवति भवत्पादेषु सापि कौतूहलजनने समर्थेत्यर्थः। हे त्रिपुरान्तक! त्वदीयगुणविस्तारारूपशुभव्यापार-नियुक्ता ममाप्येषा वाणी निर्मला स्यादिति ममापि मतिस्तव स्तुतिकथने प्रवृत्ता।

भाषार्थ :—हे भगवन्! मधुररससे भीतर बाहर परिपूर्ण परब्रह्मपद देने में समर्थ ऐसी वेद वाणी के रचने हारे आपके लिये देवताओं के गुरु ब्रह्माजी की भी की हुई स्तुति क्या कुछ विस्मापक प्रतीत हुई। (अर्थात् नहीं हुई, तो

फिर अन्य जनों की वाणी की गणनाही क्या जो वे समझें कि आपको प्रसन्न कर उठेगी)। मेरे मनमें तो यह बात आई है कि मैं भी आपके गुणानुवाद द्वारा प्राप्त पुण्य से अपनी वाणी निर्मल करलूं।

मधुस्फीता :–जैसे रसगुल्लादि भोज्यपदार्थ रससे भीतर बाहर परिपूर्ण होते हैं उस भांति मधुररसपूर्ण।

परमममृतं :–परम अमृत अर्थात् अभयपद नामक जो ब्राह्मी स्थिति है उसके प्रदान करने में समर्थ।

पुरमथन :–पौराणिक कथा तो प्रसिद्ध ही है कि त्रिपुर नामक दैत्य के संहार करने के कारण शिवजी का नाम त्रिपुरारि त्रिपुरान्तक या पुरमथन पड़ा परन्तु इसके अध्यात्मार्थ भी है। पुर से अर्थ त्रिपुर से है और त्रिपुर से तात्पर्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से है। "पुरत्रये क्रीडति यः स जीवः" जो इन तीन अवस्थाओं में भ्रमता, खेलता या रमता है उसका नाम जीवात्मा है। जो इन तीन अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था को प्राप्त हो गया है और जिसने इन तीन पुरों को मथन अर्थात् नाश कर दिया है वह त्रिपुरान्तक शिव है।

... ...

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥४

अन्वय :–(हे) वरद ! इह एके जडधियः, त्रयीवस्तु, तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु व्यस्तम्, जगदुदयरक्षाप्रलयकृत् यत् तव ऐश्वर्यम् तत् विहन्तुम् अस्मिन् (त्रैलोक्येऽपि) अभव्यानाम् (जनानामेव) रमणीयाम् (किंतु वस्तुतः) अरमणीम् व्याक्रोशीम् विदधते।

संस्कृतार्थ :–हे ईप्सितप्रद, हे भक्तजनमनोरथप्रपूरक ! अस्मिन्संसारे केचन मूर्तिपिंडबुद्धयो मूढजना वेदत्रयसारम्, सत्वरजतमोभिर्गुणैः पृथक्कृतासु तिसृषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यासु मूर्तिषु विविच्य न्यस्तं, सृष्टिप्रपंचरचनास्थिति-

संहारकारकं, यत्तव मायामाहात्म्यं तन्निराकर्तुं त्रैलोक्येऽपि नष्टभाग्यानाम्मनोहरं वस्तुतस्तु नितान्तजघन्यं साक्षेपोच्चभाषणयुक्तं चीत्कारमहमहमिकया कुर्वते। केचिन्नष्टबुद्धयोऽनीश्वरमिदञ्जगत्स्वभावनियतमिति प्रमाणयन्तस्तथा जल्पन्ति यथा बहवोऽपि हतभाग्यजनास्तेषामापातरमणीयां परंतु परिणामेऽत्यन्तदुःखावहामकल्याणीं वाणीमुररीकृत्य नास्तिक्यं भजमाना आकल्पं नरके निवसन्ति।

भाषार्थ :—हे भक्तजनों की इच्छा पूरी करने वाले शिवजी! इस संसार में कुछ महामूर्ख ऐसे भी हैं जो आपके, वेदत्रयसाररूप, त्रिगुणभिन्न त्रिमूर्तियों में स्थित, समस्त जगत् के आविर्भाव तिरोभाव और रक्षा करने में समर्थ उस प्रसिद्ध ऐश्वर्य की निन्दा करने के लिये कुछ ऐसा गुलगपाड़ा मचाते हैं कि जो वास्तव में अत्यधिक कुत्सित होने पर भी कुछ सदाके अभागों का मन मोहित कर ही लेता है।

भावार्थ :—हे भक्तों की मनोवाञ्छा पूरी करने वाले शिवजी! तीनों (चारों) वेद आपही के ऐश्वर्य का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि कहा है 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति' अर्थात् सब वेद जिस पद का वर्णन करते हैं और भी "वेदैश्चसर्वैरहमेव वेद्यः" अर्थात् सब वेदों में मैं ही (कृष्ण) जानने योग्य पदार्थ हूँ। ऐसा वह आपका ऐश्वर्य प्रत्यक्ष में रजगुण प्रधान ब्रह्मा और सतगुण प्रधान विष्णु तथा तमगुण प्रधान शिवरूप त्रिमूर्तियों में यथाभाग स्थापित है। इनमें से ब्रह्माजी द्वारा सृष्टिप्रपंच का निर्माण, विष्णु द्वारा रक्षा और महेश्वर द्वारा नाश होता है। इस भांति संपूर्ण जगत् का परिभ्रमण कराने में आपका ही अद्वितीय ऐश्वर्य पर्याप्त कारण है। शब्द, अनुमान, प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों द्वारा जो जगत्सिद्ध आपका ऐसा ऐश्वर्य है उस ऐश्वर्यरूपी हिमालय पर्वत को भी 'फूंक उड़ावन चहत पहाड़' न्यायानुसार, कुछ कहाने को विद्वान परन्तु वास्तव में महामूर्ख जन अप्रमाणित सिद्ध करने के लिये नितान्त बकवाद किया करते हैं। उनकी ऊटपटांग बातें कुछ सदा के अभागों का मन मोहित भी कर लेती हैं और इस भांति इन हिजड़ों का संप्रदायविच्छेद होता नहीं। परंतु हे शिवजी जिनपर आपकी कृपादृष्टि है वे इन वितंडावादियों के चक्कर में कदापि फंसते नहीं।

त्रयीवस्तु :—त्रयीसारम्। अर्थात् तीनों वेदों के साररूप। प्रारम्भ में तीन ही वेद प्रमाण माने जाते थे, अथर्वण वेद बाद को वेदों में गिना गया।

... ...

श्लोकसंगति :—उन नामके पंडितों की व्याक्रोशी अर्थात् ऊटपटांग तर्काभास का थोड़ा सा नमूना आगे के श्लोक में दिया जाता है।

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥५॥

अन्वय :—सः खलु धाता किमीहः किंकायः किमुपायः किमाधारः किमुपादानः च त्रिभुवनम् सृजति इति अयम् कुतर्कः अतर्क्यैश्वर्ये त्वयि अनवसरदुःस्थः (सन्) कांश्चित् हतधियः जगतः मोहाय मुखरयति।

संस्कृतार्थः :—यदि स ईश्वरो जगत् रचयत्येव तर्हि तस्य भुवननिर्माणे कथंचेष्टा, को मनोगताभिप्रायो वा, स कियदाकारः कैस्सहकारिकारणैश्च सहायवान्, कुत्र स्थित्वा कान्पदार्थान्भुवनाकारेण निष्पादयतीत्येवंरूपस्तर्काभासस्तर्कातीतमायामाहात्म्ये त्वय्यप्राप्तावकाशत्वाद्विगलितांगोऽपि सन् कानपि नष्टबुद्धिजनान् विश्वस्यान्यथाप्रतिपत्तये वाचालान् करोत्येव।

भाषार्थ :—यदि वह ईश्वर जगत की रचना करता है तो भला जगत बनाने में उसका क्या स्वार्थ है, उसका शरीर किस भांति का है, वह किन किन यंत्रों की सहायता लेता है, कहाँ पर ठहर कर किन किन पदार्थों द्वारा सृष्टि रचना करता है इत्यादि अनेक प्रकार के संदेहों और झूठी बहसों को कि जिनके लिये बुद्धिअगम्य आपके मायामाहात्म्य में कोई स्थान न होने के कारण कोई बैठने की जगह नहीं है, कुछ नष्ट बुद्धि जन्तु जगज्जीवों को मोहांधकार में डालने के लिये सदा किया ही करते हैं।

भावार्थ :—हे शिवजी यद्यपि यह बात हर प्रकार के सत्प्रमाणों द्वारा सब भांति सिद्ध है कि जगत के मूल कारण आपही हैं परन्तु कुछ नष्टसद्बुद्धि पशुओं के कपालपिंजर में यह सनातन सत्य समाता नहीं और वे अपनी मूर्खता के आवेश में आ इस प्रकार के झूठे तर्कों की झड़ी बांधा करते हैं कि यदि यह माना भी जाय कि ईश्वर ही जगत का निर्माण करता है तो भला इन बातों का

क्या उत्तर है कि वह जगतकर्त्ता ईश्वर अपने जगत को अपनी किस मनोवासना की पूर्ति के लिये रचता है, वह शरीर में कितना लंबा चौड़ा है और किस प्रकार का है। उसके पास जगत निर्माण कौशल हेतु किस प्रकार के यंत्र और औज़ार हैं। उसकी सत्ता स्वयं काहे पर सधी है और वह किन प्रकार के पदार्थों द्वारा सृष्टि रचता है। यतः इन प्रश्नों के समुचित उत्तर (ऐसा वे समझते हैं) कोई दे नहीं सकता अतएव यही मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है कि ईश्वर इस जगत का मूलकारण कदापि नहीं है और यह जगत स्वयंसिद्ध और अपने आप में पर्याप्त है। उनके इन झूठे तर्कों के लिये यद्यपि आपके लोकातीत जगतनिर्माण कौशल में कोई समुचित स्थान नहीं है और इसलिये उनके वे तर्क इधर उधर ढुलकाही करते हैं परन्तु तब भी जैसे चोर उचक्के स्थान भ्रष्ट गृहहीन पदरहित होने पर भी सायंप्रातः कुछ न कुछ असंयत राहियों को भटका कर अपना पेट पाल लेते ही हैं तैसे ही ये तर्काभासी शास्त्री भी कुछ भोले भाले जीवों को अपना अनुयार्या बना जगत की अंधपरंपरा को नष्ट नहीं होने देते।

ये दिखावटी विद्यादिग्गज अपने मनमें यह माने बैठे हैं कि जैसे इस संसार में यदि कोई किसी पदार्थ की रचना करता है तो कुम्हारवत् उसे मृत्तिकादि उपादान, चक्रादि यंत्र, भूम्यादि आधार, हस्तादि शरीरावयव तथा घटविक्रय द्वारा धनोपार्जनादि की ईहा इत्यादिका होना परमावश्यक है उसही भांति ईश्वर को भी तद्वत सब सामग्री चाहिये ही। और यदि ऐसा हुआ तो सृष्टि रचना से पूर्व ईश्वर सत्ता को साधने वाला आधार सृष्टिपूर्वक सिद्ध होकर सृष्टि से पूर्व सृष्टि की अनवस्था पैदा करेगा। सृष्टि रचने में कोई मनोगत हेतु होने के कारण ईश्वर उस हेतु के पराधीन सिद्ध होगा। सृष्टि रचना में जो पदार्थ उपादान होते हैं वे निश्चय स्वयं सत्ता वाले और ईश्वर से स्वतंत्र होने के कारण उसके वशीभूत नहीं हो सकते। इस प्रकार ईश्वर सर्वथा अनीश्वर और पराधीन ही सिद्ध होता है। ऐसा पराधीन अनीश्वर ईश्वर जगत का कारण हो नहीं सकता अतएव जगत स्वयं अनादि अनंत और स्वतः सत्ता वाला है।

इन बुद्धिरूपमूषकों की दृष्टि में यदि ईश्वर हो सकता है तो एक बहुत बड़ा कुम्हार या बहुत बड़ा चमार ही हो सकता है और ऐसे ईश्वर में तर्कदोष सिद्ध होने के कारण इन्हे ईश्वर सत्ता न मानना ही बुद्धिमत्ता जचती है। हे शिवजी ये कुतर्की आपके अनिर्वचनीय जगत निर्माण कौशलरूपी योगमाया के

प्रभाव को नहीं समझ पाते अतएव चाहे लागू हों या न हों ये अपने तर्काभास जगत को विमोहित करने के लिये सदा करते ही रहते हैं। इन कुतर्कियों को अपने उदाहरण की अनतिव्याप्ति नहीं सूझती और न वे यह ही देख पाते हैं कि भला उनके प्रमाणों ही के क्या प्रमाण हैं अर्थात् उनके मनोबुद्धि आदि करण किस प्रकार निर्भ्रान्त सिद्ध है। ये केवलमात्र अनुमान की लकीर पकड़े हुए भगवत् के इन वाक्यों का, कि—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥"—कोई उचित अर्थ नहीं लगा सकते। इनके इन कुतर्कों के समाधान विधिका यहाँ दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। विवरण पूर्वक इन शंकाओं का समाधान वेदांत ग्रंथों में बड़े २ विद्वानों द्वारा सर्वत्र किया गया है। यहाँ पर उनका अवतरण ग्रंथ को अतिविस्तृत कर देगा इत्यलम्।

किम् :—किम् शब्द जिसका प्रयोग किमीहः किंकायः इत्यादि में हुआ है यहाँ आक्षेप सूचक है। अर्थात् वह शुद्धरूप से प्रश्न ही मात्र नहीं करता है कि उसकी क्या वासना है, कैसा शरीर है इत्यादि वरन् उसका तात्पर्य यह है कि यतः इन प्रश्नों का कोई उचित उत्तर हो नहीं सकता अतएव ये ऐसे आक्षेप हैं जो ईश्वर की सत्ता को नितान्त नष्ट करते हैं। यदि कोई अनभिज्ञ उनका उत्तर ये दे कि उसका शरीर ऐसा है, अभिप्राय यह था तो वह तो फंसा रक्खा ही है।

उपादान :—घड़ा बनाने में कुलाल निमित्त कारण है और मृत्तिका उपादान कारण है। बहुत से लोग ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं और प्रकृति को उपादान कारण मानते हुये उसे भी अनादि अनन्त मानते हैं और इस भांति दो स्वतंत्र सत्ता मान कर द्वैतवाद स्वीकार करते हैं।

अतर्क्यैश्वर्ये त्वयि :—इत्यादि शब्दों का प्रयोग करने से पुष्पदन्तजी माया की अनिर्वचनीय ख्याति स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं जो मत शुद्धाद्वैत वेदांतियों का है (नतर्क्यं अतर्क्यं अतर्क्यं ऐश्वर्यं यस्य सः तस्मिन् इति अतर्क्यैश्वर्यं)

... ...

श्लोकसंगति :—पूर्व के श्लोक में प्रतिकूल तर्क द्वारा नास्तिकों की स्थिति वर्णन की; अब इस श्लोक में अनुकूल तर्क द्वारा उन लोगों की स्थिति वर्णन करते हैं जो नास्तिकवाद का प्रतिवाद करते हुवे भी ईश्वर का अस्तित्व अनेक प्रकार के अनुमानों ही द्वारा खोजते हैं। ऐसे लोगों को मंद कहा है कारण कि बुद्धि की दुर्बलता के कारण उनका आस्तिक भाव दृढ़ न होकर डांवाडोल सा रहा करता है।

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता—
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो
यतो मंदास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे॥ ६॥

अन्वय :-(हे) अमरवर! अवयववन्तः अपि लोकाः किम् अजन्मानः। जगताम् भवविधिः अधिष्ठातारम् अनादृत्य किम् भवति। अनीशः वा कुर्यात्। (तर्हि) भुवनजनने कः परिकरः (स्यात्)। यतः (एवम् अतः ते) इमे मंदाः (ये) त्वां प्रति संशेरते।

संस्कृतार्थ :—हे सर्वदेवश्रेष्ठ! सावयवा अपीमे लोकाः क्षित्यादयः किमनादय उत्पत्तिरहिता वा। सावयवत्वाज्जन्या एवेत्यर्थः। लोकानामुत्पत्तिक्रिया कर्तारमनपेक्ष्य किं भवति। नेति। यद्येतेषां लोकानामुत्पत्तिर्मन्तव्यैव तर्हि तेषां कर्त्ताप्यपेक्ष्यत एव। नह्यकर्तृककार्यत्वं बुद्धिगम्यमिति। यदि कर्त्तापेक्ष्यत एव भवतु तर्हि कश्चन जीवविशेषः कालान्तरेऽधिगताणिमादिमहासिद्धिर्योगेश्वरोनाम। एवं प्राप्तोत्कर्षोऽप्यनीशो जीवो जगत्कर्तुं न शक्नुयात्। स्वशरीररचनायामप्य-समर्थः कथं भुवनजनने समर्थो भवेदित्यर्थः। अनीशस्य जीवस्य भुवनजनने का सामग्री स्यात्। नकापीतिभावः। यत एवं सर्वप्रमाणसिद्धस्त्वं, अतस्ते मूढा न तु विद्वांसो ये इमे त्वां प्रति संदिहन्ति।

भाषार्थ :—हे सर्वदेवों के स्वामी महादेवजी! क्या यह संभव हो सकता है कि सावयव संसार भी अनादि तथा उत्पत्ति रहित हो (अर्थात् सावयव होने से कार्य और कार्य होने से उत्पत्तिमत् मानना ही होगा। यदि उत्पत्ति वाला

है तो) क्या यह संभव है कि जगत की उत्पत्तिक्रिया विना किसी अध्यक्ष या कर्त्ता की सहायता के ही संपन्न हो जाती हो (अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता)। (अच्छा यदि किसी कर्त्ता की आवश्यकता ही है तो) कोई जीव विशेषकर्ता हो सकता है (जैसे कोई पुरुष विशेष राजा होता है) (नहीं, अनीशजीव जब अपने शरीर ही को नहीं रच सकता तब वह भुवननिर्माण में कैसे समर्थ हो सकता है और अनीश होने के कारण) वह भुवन निर्माण के उपादान पदार्थों पर अधिकार कैसे करेगा ? इसलिये जो मंदबुद्धि हैं वे ही आपके अस्तित्व में संदेह करते हैं।

भावार्थ :—पूर्वके श्लोक में उन लोगों के संदेह और तर्काभास का दिग्दर्शन कराया गया है जो लोग कि शुष्कतर्कपटु और अनुमानैकचाक्षुष होने के कारण और आगम या शब्दप्रमाण को प्रमाण न मानने के कारण अपनी बुद्धि द्वारा इस सिद्धान्त को पहुँचे हुये हैं कि जगत अनीश्वर है। इस श्लोक में उनके सिद्धान्तों का खंडन करके आस्तिक भाव प्रतिपादित किया जाता है। परन्तु आस्तिक जन भी दाल भात का कौर की भांति कुछ एकदम ईश्वर साक्षात्कार नहीं कर लेते। उनको भी प्रारंभ में अनेक प्रकार की शंका समाधान करनी और करानी होती है। नास्तिकों से उनके संदेहों और समाधानों में अंतर यह होता है कि वे शब्द और गुरु को प्रमाण मानते हुये अनुमान करते हैं जब कि नास्तिक ऐसी सहायता लेना सर्वथा अनुचित समझते हैं। नास्तिकों के तर्क धीरे धीरे उनको अनीश्वर जगत की सत्ता की शिक्षा देते हैं, आस्तिकों के तर्क धीरे धीरे उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार कराते हैं।

आस्तिक नास्तिकों के इस सिद्धान्त में कि जगत अनादि और स्वयं सत्ता वाला है स्वभावतया यह दोष देखता है कि सावयव जगत (Compound) उत्पत्ति रहित कैसे हो सकता है। सावयव जन्य और जन्य सकर्तृक होते हैं। अच्छा मान लिया कि जगत जन्य है और इसका कर्ता भी है परन्तु जैसे कभी कभी फलदार वृक्ष भी जंगलों में खुदरो उग आते हैं वैसे ही संभवतः ये सृष्टि भी कर्त्ता का अनादर कर हो गई हो। अर्थात् कर्त्ता हो भी तब भी जैसे अत्यन्त चंचल तुरग सारथि के वश में होता हुआ भी कभी कभी उसकी अवज्ञा करके बंधन तोड़ स्वतंत्रगामी हो उठता है इसही भांति इस सृष्टि की भी उत्पत्तिक्रिया सर्वथा और पूर्णतया उस कर्त्ता ईश्वर के वश न हो। अर्थात् ईश्वर कुछ अंशों

में असमर्थ भी हो और ईश्वर भी हो। या इससे उतर कर यह भी संभव है कि कोई अनीश्वर जीव विशेष ही सामर्थ्य पाकर ईश्वरत्व की पदवी पर जा धमका हो और अपनेको ईश्वर कहता हो। प्रथम संदेह का समाधान यह है कि यदि ईश्वर अंशतः भी असमर्थ होगा तो उसही अनीश्वर अंश द्वारा एक समय उसका नाश होकर जगत सदा के लिए नष्ट हो जायगा और फिर कभी सृष्टि हो ही नहीं सकती। इसको यदृच्छासिद्धान्त (Chance Creation Theory) कहते हैं। यदि जीव विशेष को ईश्वर मानो तो वह अपने बनाने में भी असमर्थ होने के कारण जगत का करता किस प्रकार कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो अनीश्वर है वह भुवन निर्माण के उपादान पदार्थों के संग्रह करने में जीववत् पराधीन होगा अतएव उसको अन्य जीवों की सहायता की अपेक्षा होगी अतः सृष्टि से पूर्व सृष्टि की अनवस्था आन पड़ेगी। इन सब तर्कों को दृष्टि में रखते हुए हे शिवजी आपकी सत्ता में संदेह होना बुद्धि की दुर्बलता ही का स्वरूप है।

... ...

श्लोकसंगति :—पूर्व श्लोक में आस्तिक तर्क और आस्तिक संदेह का दिग्दर्शन कराया गया है। अब आस्तिकों में भी व्यवहार में बड़े भेद पाये जाते हैं। तो क्या ये सब भिन्न भिन्न मतमतान्तर इन आस्तिकों को भिन्न भिन्न ईश्वर का उपदेश देते हैं और क्या वास्तव में बहुत से ईश्वर हैं। या कमसे कम इतने ईश्वर हैं कि जितने आस्तिक मार्ग या प्रस्थान हैं। इस शंका का समाधान इस श्लोक में किया गया है। और भिन्न भिन्न प्रस्थानों का पारस्परिक संबंध भी बताया गया है।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ ७ ॥

अन्वय :—त्रयी सांख्यम् योगः पशुपतिमतम् वैष्णवम् इति प्रभिन्ने प्रस्थाने इदम् परम् पथ्यम् अदः (परम् पथ्यम्) च इति (वदतां) रुचीनाम् वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणाम् पयसाम् अर्णवः इव त्वम् एकः गम्यः असि।

संस्कृतार्थ :—वेदत्रयी,भगवताकपिलेन प्रणीतं सांख्यशास्त्रं, योगशास्त्रं, शैवमतं, वैष्णवमतञ्चेत्यनेकविधधर्ममार्गप्रभेदे जातेऽयं धर्मः परमहितकरस्तत्सं-प्रदायोऽतिशीघ्रमोक्षप्रदस्तच्छास्त्रं सर्वश्रेष्ठमिति वदतां जनानां प्राग्भवीयतत्तत्कर्म-वासनावशेनानेकविधसंस्कारोद्भूतविचित्ररुचीनामत एव सरलवक्रमार्गानुसा-रिणां गंगानर्मदादीनां यमुनासरय्वादीनां नदीनाञ्च समुद्र इव त्वमेवैकः प्रधानः प्राप-णीयः परमपुरुषार्थरूपोऽसि । यद्यप्यनेकविधाः प्रस्थाना आभासतः प्रभिन्ना इव दृश्यन्ते परन्तु न ते भिन्नरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति । सर्वे ते सरलेन वक्रेण वा मार्गेण त्वामेव प्रापयन्ति । निःश्रेयसाधिगमेऽल्पदीर्घकालातिपात एव तेषां प्रभिन्नत्वम् । ननु सर्वे जनास्सरलमार्गानुसारिणः सन्तः किन्न्वल्पकालेनैव सिद्धिन्न समधिगच्छन्ति किन्तु बहवोजना वक्रं गच्छन्तो दीर्घकालमतिवाह-यन्तीत्यत्रोच्यते—तत्तत्पुरुषाणां पूर्वजन्मकृतकर्मवैचित्र्योत्पन्नरुचिवैचित्र्यमेव कार-णमिति । परस्परं विवदमानानां मतमतान्तराणां धर्माणां शास्त्राणाञ्च त्वय्येवैकस्स-मन्वयः । न त्वद्भिन्नं किंचिन्निःश्रेयसं न वा पुरुषार्थः । त्वमेव केवलस्सर्वजना-श्रयणीयः शरण्यो देवदेवः ।

भाषार्थ :—वेदत्रयी, सांख्य और योगशास्त्र तथा शैव और वैष्णव मतादि अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न धर्म मार्गों में से, अपनी अपनी भिन्न तथा विचित्र-रुचियों के कारण, कोई मनुष्य किसी और कोई मनुष्य किसी को, 'हमाराही शास्त्र या मत सबसे अच्छा है' ऐसा कहता हुआ ग्रहण करता है और इस भांति जैसे टेढ़े सूधे मार्ग से चलकर सब नदियाँ अंत में समुद्र ही को प्राप्त होती हैं इस भांति वे सब भी अंत में केवल मात्र एक आप ही को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ :—"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" अनेक जन्मों में प्रयत्न करने के उपरान्त तब कहीं साधक परम गति को प्राप्त होता है । ऐसा भगवद्वाक्य गीता में पाया जाता है । इन अनेक जन्मों में की हुई साधनाओं वासनाओं और कर्मोंके फलरूप मनुष्यों की रुचियाँ एकसी न होकर अनेक प्रकार की हैं और तद्वत् उनकी योग्यताओं में भी तारतम्य है । इन्हीं रुचिवैचित्र्य तथा योग्यताओं के तारतम्यानुकूल संसार में भिन्न भिन्न धर्ममार्ग और शास्त्र-प्रस्थान भी दिखाई पड़ते हैं । अपनी २ रुचि और योग्यतानुकूल कोई किसी

और कोई किसी धर्म या शास्त्र को अपने लिये अत्यन्त हितकर समझता हुआ ग्रहण करता है।

प्रश्न होता है कि क्या ये सब भिन्नधर्ममार्गगामी तथा भिन्नशास्त्रप्रेमी सदा भिन्न ही रहकर अनेक प्रकार के निर्णयों और बहुविध इष्टदेवों के लोकों में सदा रहते हुये, पहाड़ की अनेक ऊंची चोटियों की भांति, कभी भी मिलते नहीं ? अर्थात् इन सब भिन्नधर्ममार्ग और शास्त्रप्रस्थानों में कोई समन्वय है या ये सदा के स्वतंत्र अंत तक स्वतंत्र ही रहते हैं । पुष्पदंत जी कहते हैं, नहीं। हे शिवजी ! आप इन सब भिन्नताओं का समन्वय हो । जैसे गंगा और नर्मदादि नदी सरल मार्ग से चलकर और यमुना सरयू आदि पहिले गंगा में गिरकर तब समुद्र में गिरती हैं इसही भांति ये अनेक धर्म, मतमतान्तर और शास्त्र एक दूसरे में मिलते हुये अंत में आपही को प्राप्त कराते हैं ! अर्थात् आपही परात्पर सत्य हो।

त्रयी :—इस शब्द से चारों वेद, षट् वेदांग और उपवेदों आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। हम लोगों के विचारानुकूल सांगीत विद्या की पराकाष्ठा को प्राप्त होने वाला भी शब्दब्रह्म द्वारा परमगति को प्राप्त कर लेता है। इसही भांति अन्य बिद्याओं और शास्त्रों के विषय में भी कहा गया है। अर्थात् सर्व शास्त्रों विद्याओं और कलाओं में समन्वय है और सबका एक ही प्रभव होने के कारण अर्थात् शिवजी ही से सर्व विद्याशास्त्रकला आदि की उत्पत्ति होनेके कारण (क्योंकि वे ही आदि गुरु हैं) सबमें अंततः परमपुरुषार्थ देनेका सामर्थ्य है।

ऋजुकुटिलनानापथजुषाम् :—ऋजवश्च कुटिलाश्च ऋजुकुटिलाः ते एव नानापथाश्चेति तान् जुषन्ते भजन्ति इति ते, तेषाम् । अर्थात् टेढ़े सूधे मार्गों से चलने वाले लोगों का।

... ...

महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रू प्रणिहितां
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

अन्वयः :—(हे) वरद ! महोक्षः, खट्वांगम्, परशुः, अजिनम्, भस्म, फणिनः, कपालम्, च इति तव इयत् तन्त्रोपरकरणम् । (परन्तु) सुराः तु भवद्भ्रूप्रणिहिताम् ताम् ताम् ऋद्धिम् दधति । हि विषयमृगतृष्णा स्वात्मारामम् न भ्रमयति ।

संस्कृतार्थ :—हे भक्तानां कामधेनो ! वृद्धवृषभः खट्वांगं कुठारो मृगचर्म पांशुस्सर्पा मनुष्यशिरोस्थि चेति सप्तकमेव तवपरिपूर्णपरमेश्वरस्यापि जगत्कुटुम्बपरिपोषणसामग्री । परन्तु भवत्सेवका देवास्तु त्वत्कटाक्षमात्र-समर्पितामसाधारणीं संपत्तिं भुंजन्ति । निश्चयेन विषयभोगमरुमरीचिकाऽन्ये-षामप्यात्मानंदमेव परमस्मन्यमानानां जनानां चित्ताकर्षणे न प्रभवति किमुत भवताम् ।

भाषार्थ :—हे भक्तों की सर्व प्रकार की इच्छा पूरी करने वाले शिवजी ! आपकी गृहस्थी का सामान तो केवलमात्र एक बूढ़ा बैल, खटिया का पावा, कुल्हाड़ी, मृगचर्म, भस्म सांप और नरकपाल ही है। परन्तु देवता लोग आपके कटाक्ष संकेतमात्र से प्राप्त की हुई कैसी कैसी संपत्तियाँ भोगते हैं। सच तो यह यह है कि अन्य आत्मानन्दी जन भी बिषय भोग को मृगतृष्णावत् असत् मानते हुये उधर ध्यान नहीं देते फिर आप जगद्गुरु की कौन कहे

भावार्थ :—हे शिवजी ! संसार आपको वरद अर्थात् जो मांगो सो पावो ऐसा अपूर्व भोला भंडारी समझ कर पूजती है। तो इससे निश्चय प्रतीत होता है कि आपने बड़े बड़े शाही खजाने छिपा रक्खे होंगे। परन्तु यथार्थ में ऐसा न होकर आपके पास तो महादरिद्रियों की भांत गृहस्थी का सामान है। चढ़ने के लिये एकमात्र महा बूढ़ा बैल कि जिसकी पूर्णतया देख रेख न होने के कारण सब टांगे कभी भी दुरुस्त नहीं रहतीं। सोने के लिये आपकी खटिया के चारों पावे कभी दुरुस्त न मिले। लकड़ी चीरने वाला आपका कुल्हाड़ा भी इतना गोठिल है कि बस कृपानाथ आपही उसे चला सकते हो। एक जर्जरित मृगचर्म बस यही आपका गद्दा है। जो धूनी में भस्म है बस येही आपके घर आटे शक्कर के बोरे हैं। आपका चिड़ियाखाना भी बड़ा ही अपूर्व है क्योंकि केवलमात्र महा-भयंकर विषैले सर्प ही आपको रुचिकर प्रतीत हुए। रहा वर्तन भाड़ा सो बस एक किसी भाग्यवान की खोपड़ी मात्र से आप अपना निर्वाह कर लेते हो। भूख

लगने पर माई अन्नपूर्णा को सताते हो। वे विचारी आप ऐसे निखट्टू अकिंचन पतिको पा जाने क्या सुख पाती होंगी । ये भी बात नहीं है कि आपके घर कोई खाने वाला नहो अर्थात् आप केवलमात्र माई बाबा ही हो । आपके छोटे सुपुत्र का पेट इतना छोटा है कि लोग उन्हे लम्बोदर की उपाधि देते हैं। प्रातः काल होते ही आप 'हे अंब ! हे अंब (जो तुतलाने के कारण हेरंब मात्र आपके मुख से निकलता है) लड्डू दे' की ऐसी धुन बांधते हैं कि माई अन्नपूर्णा के हांथों के बरतन छूट जाते हैं। फिर यह भी बात नहीं कि एक आध लड्डू से काम चल जाता हो, पूरे थाली भर हों तो आपका कलेवा सधे । रहे बड़े साहबजादे। सो किसी के खाने को एक मुंह होता है परन्तु आपके पूरे छः हैं। इससे आपको कितने कम भोजन की आवश्यकता होती होगी सो लोग सहज ही में अनुमान लगालें। दूसरे आप मिजाज के भी बड़े गरम हैं, पलटनियाँ स्वभाव के हैं। देरी बरदाश्त भी नहीं होती इसही लिये बहुधा आप माई से रूठ मोर पर सवार हो ईश्वर जाने कहां कितने दिन गवां आते हैं । आपके घरके नौकर चाकर और घोड़े तबेले आदिका यदि पूर्ण वर्णन किया जाय तो किसी के पेटमें आंत ही न रह जांय । एक माई अन्नपूर्णा ही ऐसी सती साध्वी हैं कि न जाने कहां से इस आपकी अपूर्व गृहस्थी का निर्वाह करती चली आ रही हैं। तुर्रा यह कि आपके दुवक्ता भांग में भी कभी फरक नहीं पड़ने देतीं।

अच्छा, हे शिवजी ! यदि आप ऐसे गरीब हैं तो जो कुछ आपको मिला करे कृपाकर उसे गंठिया कर यत्नपूर्वक रक्खा ही कीजिये कि वक्त पड़े काम आवे। आपसे वह भी नहीं होता। जिसने जो मांगा उठादिया। आपकी इस शाहखर्ची ही काफल यह है कि नौकर चाकर तो बादशाही कर रहे हैं, इन्द्रादिकों के घर में तो रोज परियां नांचती हैं और आप सदा ठूंठ के ठूंठ (स्थाणु) ही बने रहे जाते हो। प्रश्न होता है कि आखिर जब आपके सेवकगण आपका इशारा होते ही महा-नैश्वर्य को सहज ही में प्राप्त कर लेते हैं तो आप अपने लिये भी कुछ आराम व आशाइस का थोड़ा बहुत सामान क्यों नहीं इकट्ठा कर लेते । पुष्पदंत जी कहते हैं कि ये मायिकवैभव तो उन आत्मानन्दी लोगों को भी नहीं भाते कि हे शिवजी जिनपर आपकी सच्ची कृपा होती है फिर भला आप आत्मदेव का इन तुच्छ विषयभोगों की ओर क्या ध्यानाकृष्ट हो सकता है।

महोक्षः खट्वांगं-इत्यादि :—शैव शास्त्र विशारदों का विचार है कि

पुरुष प्रधान, महत्, अंहकार, तन्मात्राएं, इन्द्रियां और पंचमहाभूतादि गुणरूप से महोत्वादि रूप धारण कर शिवजी की नित्य सेवा किया करते हैं। यह रहस्य गुरुमुखवेदनीय है।

... ...

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिह्मेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥६॥

अन्वयः:-कश्चित् सर्वम् ध्रुवम्, अपरः तु इदम् सकलम् अध्रुवम्, परः समस्ते अपि एतस्मिन् जगति ध्रौव्याध्रौव्ये व्यस्तविषये गदति। (हे) पुरमथन ! विस्मितः इव तैः (उपरोक्तस्तुतिप्रकारैः) त्वाम् स्तुवन् न जिह्मेमि। ननु खलु मुखरता धृष्टा (एव भवति)।

संस्कृतार्थः:-एकस्सर्वं जगत्सदिति वदति। अन्यस्समस्तमिदं प्रपंचमसदिति वदति। उभाभ्यां भिन्नः कश्चन् संपूर्णेऽस्मिन्विश्वे नित्यत्वानित्यत्वे एकैकशः पदार्थेषु विविनक्ति। हे त्रिपुरनाशक ! अद्भुतं दृष्ट्वा परवशीकृत इवाहमुपरोक्तकथनप्रकारैस्त्वां स्तुवन्न लज्जे इति निश्चयेन मम वाचालतायाः निःसीमधृष्टता एव।

"सांख्यपातंजलमतानुसारी सर्वं ध्रुवमिति वदति। नह्यसत उत्पत्तिः संभवति न वा सतो विनाश इत्याविर्भावतिरोभावमात्रमुत्पत्तिविनाशशब्दाभ्यामभिलक्ष्यते। तेन परमेश्वरोऽपि तावन्मात्रस्येष्टे न त्वसत उत्पत्तेः, सतो वा विनाशस्येत्यभिप्रायः— इति सत्कार्यवाद एकःपक्षः। तथाऽपरोऽन्यः सुगतमतानुवर्ती सकलमिदमध्रुवं क्षणिकमिति गदति। नहि सतः स्थिरत्वं संभवति। अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम्। तच्च सदर्थस्य क्षणयोगेन न विलंबेनोत्पद्यते इति। एकस्मिन्क्षणे सर्वार्थक्रियासमाप्तेरुत्तरक्षणे असत्वमेव। तथाच परमेश्वरस्यापि क्षणिकविज्ञानसंतानरूपत्वादसावसत उत्पत्तेरीष्टे न तु सतः स्थिरत्वायेति द्वितीयः पक्षः सर्वक्षणिकतावादलक्षणः। आकाशकालदिगात्ममनः पृथिव्यादि परमाणवश्च

नित्या इति वा। कार्यद्रव्याणि चानित्यानि। तथा चानित्यानामुत्पत्तिविनाशयोरीष्टे परमेश्वरो नतु नित्यानामपीत्यर्थः—इत्येवं तृतीयः पक्षः। तथा च त्रिष्वप्येतेषु द्वैतांगीकारादद्वितीयसन्मात्ररूपस्य परमेश्वरस्य स्पर्शोऽपिनास्तीति सोपाधिकसंकुचितैश्वर्यरूपेण स्तुतिः सर्वथा लज्जाकरीत्यर्थः"। इति मधुसूदनस्वामी।

भाषार्थ :—कोई कहता है सब सत् है, कोई कहता है यह सब असत् है। इन दोनों से विलक्षण एक तीसरा कहता है कि इस समस्त जगत के एक २ पदार्थों में कुछ नित्य कुछ अनित्य है। हे त्रिपुरनाशक! जादूमारा सा मैं इन कथनों द्वारा आपकी स्तुति करते नहीं लजाता यह क्या निश्चय करके मेरे बकवादी स्वभाव की धृष्टता नहीं है। अर्थात् निश्चय करके ऐसा ही है।

भावार्थ :—कोई सांख्यपातंजल मतानुसारी संपूर्ण जगत को सत ही कहते हैं। अर्थात् पुरुष और प्रकृति कि जिनके योग से जगत उत्पन्न हुआ है वे दोनों अनादि अनंत है। वे कहते हैं कि असत् से उत्पति नहीं सत् का विनाश नहीं और इस तरह उत्पत्ति और विनाश शब्दों का तात्पर्य केवल मात्र आविर्भाव तिरोभाव से है। अर्थात् असत् से उत्पत्ति तो होती नहीं केवल मात्र सत् ही आविर्भूत तिरोभूत हुआ करता है और इसही को लोग उत्पत्ति और नाश शब्द से व्यवहृत करते हैं। इस तरह परमेश्वर भी केवल मात्र सत् का आविर्भाव तिरोभाव करने में समर्थ है। असत् से उत्पत्ति या सत् का नाश करने में वह भी समर्थ नहीं है। यह पहिला पक्ष सत्कार्यवाद का है। अब बौधमतावलंबी कहते हैं कि यह संपूर्ण जगत् असत् या क्षणिक है क्योंकि कोई पदार्थ यदि सत् कहा भी जाय तो स्थिर कदापि नहीं कहा जा सकता। अर्थ और क्रियाकारित्वमात्र सत्व कहाताहै। अर्थात् व्यवहारिक पदार्थ कि गतिशीलता जिनका स्वभाव है वे ही सत् कहे जाते हैं। वह सत्ता व्यवहार में क्षण भरे के लिये न कि हमेशा के लिये उत्पन्न होती है। जब किसी क्षण सर्वव्यवहार और क्रिया समाप्त हो जाती है तब उसके बाद कुछ रह तो जाता नहीं अतएव सब असत् ही है। इस तरह ईश्वर स्वयं भी क्षणिकविज्ञान का प्रवाह रूप होता हुआ केवल मात्र असत् से उत्पत्ति कर सकता है परन्तु किसी ऐसे सत् की उत्पत्ति वह भी नहीं कर सकता कि जो सदा स्थिर रहे। यह दूसरा बौधों का मत सर्वक्षणिकता वाद का है। एक तीसरा पक्ष है जो नित्य और अनित्य पदार्थों को अलग २ गिनाता है और कहता है कि आकाश, काल, दिशा, आत्मा

मन और पृथिवी आदि के परमाणु नित्य हैं और इन नित्य परमाणुओं के योग से बने हुए कार्य पदार्थ जैसे घटादि अनित्य हैं। ईश्वर अनित्य पदार्थों का उत्पन्न करने वाला है, नित्य पदार्थ अनादि हैं। यह तीसरा पक्ष है। इन तीनों पक्षों में द्वैत अंगीकार किया गया है और अद्वैत सच्चिदानन्द परमेश्वर की कहीं गंध भी नहीं है। इस तरह इन सोपाधिक संकुचित ऐश्वर्य कथन द्वारा हे शिवजी मैं आपकी स्तुति करता लजाता नहीं यह मुझसे महान बकवादी की केवल मात्र धृष्टता नहीं तो क्या है। पुष्पदन्त जी कहते हैं कि हे शिवजी अद्वैतरूप आपके सम्मुख द्वैतवादियों के ये सिद्धान्त कहना स्तुति तो कही नहीं जा सकती हां इसे हमारी बकवादी धृष्टता अवश्य कह सकते हैं। इस अपूर्व कौशल द्वारा द्वैतवादियों के सिद्धान्तों का निराकारण कर पुष्पदन्त जी अद्वैतद्वारा बादको 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' आदि कह कर स्तुति करेंगे।

ध्रुवं :–जन्मनिधनरहितं सत्, अध्रुवम् तद्विपरीतमसदिति। ध्रुव नाम सत् अध्रुव नाम असत् का है।

ध्रौव्याध्रौव्ये :—ध्रौव्यं च अध्रौव्यं च ध्रौव्याध्रौव्ये। नित्यानित्ये इति। ध्रुव से ध्रौव्य शब्द बना है और इसका अर्थ नित्यत्व है इसके विपरीत अध्रौव्य का अर्थ अनित्यत्व है।

... ...

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरंचिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कंधवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य–
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥१०॥

अन्वय :–(हे) गिरिश! यत् अनलस्कंधवपुषः तव ऐश्वर्यम् परिच्छेत्तुम् उपरि विरंचिः अधः हरिः यत्नात् यातौ, (किंतु) अनलम्। ततः भक्तिश्रद्धाभर-गुरुगृणद्भ्याम् ताभ्याम् यत् (तव ऐश्वर्यम्) स्वयम् तस्थे। तव अनुवृत्तिः किम् न फलति।

संस्कृतार्थ :—हे कैलासपर्वतवासिन् ! तेजःपुंजमूर्तेस्तव बहिःप्रवृत्तं स्थूलरूपमियत्तयावधारयितुमूर्ध्वं ब्रह्माधस्ताद्विष्णुस्सर्वात्मशक्त्या यावद्गन्तुं शक्तौ तावद्गतौ परन्तु तौ कृतप्रयत्नावपि सम्यग्विभज्येयत्तयेदृक्तया वावधारयितुं तत्र शेकतुः। विफलितप्रयत्नाभ्यां ताभ्यां हरिविरंचिभ्यां तदनन्तरं भवतो भक्तिश्रद्धातिशयपरिपूर्णा स्तुतिः प्रारब्धा। एवं विगलिताहंभावयोस्तयोरंतरात्मनि तवैश्वर्यं स्वयं प्रचकाशे। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवं सिद्धं यत्त्वत्पादसेवाचिरं फलति कल्पलतेव।

... ...

भाषार्थ :—हे कैलासवासी शिवजी! महातेजस्वी आपके स्थूल रूपको बांटने के लिये ऊपर ब्रह्मा और नीचे विष्णु भगवान ने पूरा प्रयत्न किया परन्तु असफल ही रहे। तब अत्यन्तश्रद्धाभक्तिपूर्वक स्तुति करनेहारे उन दोनों पर कृपाकर आपने अपना ऐश्वर्य उन दोनों में स्वयं ही प्रकट कर दिया। तो फिर कौन कहे कि आपकी सेवा फलती नहीं।

प्राक्कथन :—पुराणों में ऐसी कथा है कि एक वार ब्रह्मा और विष्णु दोनों को बैठे बैठे सूझी कि लावो इस विराट्पुरुष अर्थात् ब्रह्मांडकी नांप जोखकर इसका लेखा लगालें कि यह कितना लंबा चौड़ा ऊंचा नीचा हल्का भारी है। ब्रह्माजी आकाश के तारे गिनने लगे और विष्णु भगवान पाताल खोदने लगे। बहुत समय लगाया बहुत प्रयत्न किया परन्तु आदि अंतका पता न पा सके और हारकर बैठ रहे। इन पौराणिक वीरों की साहसपूर्ण खोज की कहानी चाहे कोई सत माने चाहे असत परन्तु आजकल जिस भांति ज्योतिषाचार्य और वैज्ञानिक जन पद्मोंप्रकाशवर्ष की दूरी वाले नक्षत्रपुँज तथा इसगोलांड पृथ्वी की नाप जोख तथा तौल आदि की आना पाई शुद्ध खोज किया करते हैं उससे उपरोक्त पौराणिक गाथा बहुत बेमेल तो है नहीं। भेद इतना ही है कि बालबुद्धि होने के कारण ज्योतिषियों और विज्ञानवेत्ताओं के इन विराट आयोजना को हम अभी श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखते हुए ऐसी आशा करते हैं कि इनके इन अपूर्व प्रयत्नों से एक दिन हमें किसी अपूर्व फलकी प्राप्ति होगी परन्तु हमारे प्राचीन ऋषियों ने इन बहिर्प्रवृत्तिमूलकखोज और अनुसंधानों को सिद्धान्ततः ही भ्रमयुक्त पा और ऐसी निरर्थक रजकणगणना में सत्यांश की असंभावना देख उन्हें सर्वथा त्याज्य बताया है। यह तो अब आधुनिक अनुसंधान कर्ता भी मानने

लगे हैं कि हमारी नाप जोख और तौल के गज बटखरे और तराजू इसही गोलांड के पदार्थों की आपेक्षिक सत्ता के निर्णायक किसी अंश तक हो सकते हैं परन्तु इन्हीं गज तराजू और बटखरों से भिन्नगोलांडीय अंतरों (Stellar distances) और वजनों के माप में कोई उपयुक्त सहायता नहीं मिलती (अर्थात् एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न गोलांडों पर भिन्न भिन्न वजन का होगा।) इसही कठिनाई को सिद्धान्त रूपमें देख हमारे प्राचीन ऋषियों का कहना है कि बहिर्जगत माया प्रसार होने के कारण और माया के अनिर्वचनीय होने के कारण बहिर्जगत में हमें कोई ऐसा स्थिर स्थान ही नहीं मिलने का कि जहां से नाप जोखका सूत बैठाया व लगाया जासके। हां 'सत्तारा बनियां क्या करे इस कोठी का धान उस कोठी करे' वाले न्यायानुसार कालातिवाहन की बात छोड़ इन थोथे प्रयत्नों से कोई सार तो निकलने का नहीं। सत खोज अंतर्मुखविधि द्वारा की जा सकती है और अंतर्मुखविधि द्वारा की गई खोज ही सच्ची और प्रामाण्य है। बहिर्मुखता का जब सिद्धान्त ही अधूड़ा है तो उसकी भित्तिपर मकान क्या बन सकेगा। इसही सिद्धान्त का दिग्दर्शन इस श्लोक में है।

भावार्थ :—हे परमोच्चगिरिवासी । आपके नक्षत्रग्रहतारासमूहभूषित-तेजपुंजविराट्शरीर को देख एक वार आपके दो अत्यन्त प्राचीन भक्तों के मनभाई कि इस विराट् का लेखा तय्यार कर लेना चाहिये जिससे कि सदा के लिये भ्रमनिवारण होजाय। ऐसा परमार्थ सोंच ब्रह्माजी ने तो ऊपर की ओर आकाश धरा और विष्णु भगवान ने अपनी खोज की अवधिरूप पृथिवी ली । दोनों महा-वीरों ने संपूर्ण खगोल और भूगोल की भारी दौड़ लगाई, अपनी सत्ता भर कोई बात उठा न रक्खी परन्तु रहे जहां के तहां ही अर्थात् दौड़ धूपके सिवा कोई संतोषप्रद फल प्राप्त न हुआ । इस असफलता से ये दोनों महावीर धैर्यच्युत नहीं हुए और अपनी प्रवृत्तिमूलक बहिर्मुखतारूपी प्रारंभिक त्रुटि का अनुसंधान कर ठीक इसके विपरीत अंतर्मुख हो आप प्रत्यगात्मा का ध्यान और स्तुति, पूर्ण श्रद्धा और भक्ति से करने लगे । क्योंकि श्रुति कहती है "अनेजदेकस्मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" भावार्थ :—"यह आत्मा अचल है और चले तो मनकी गति से भी परे हैं। पूर्व समय में देवताओं ने इसे पकड़ने का उद्योग किया परन्तु सफल न हुये। वे पकड़ने दौड़े तो ये उनसे आगे ही दौड़ती रही, जब थककर बैठ गये तब उनके भीतर आपही आप प्रकट हो गई" । अतएव जब ब्रह्माजीने

और विष्णु भगवान ने आपकी परंभक्ति द्वारा पूजा प्रारंभ की तो हे आशुतोष आपने उनपर अनुग्रह कर उनकी बहिर्मुखप्रवृत्ति हरली और उनके शांत मनमें आपकी महिमा का सत्स्वरूप प्रकाशित हो उठा कि जिससे वे पूर्ण शांति को प्राप्त हुए क्योंकि "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"। ये मेरी माया दैवी है गुणमयी है और अपरंपार है जो मेरी शरण आते हैं वेही इसे तर पाते हैं। हे शिवजी इससे तो यह साफ सिद्ध होता है कि आपका स्थूल ऐश्वर्य भी आपकी दया विना हरिविरंचि भी नहीं जान सकते फिर भला आपके सूक्ष्म प्रभाव की तो बात ही क्या है और अन्य लोगों की चर्चा ही कौन करे। परन्तु हे शिवजी दूसरी ओर यदि कोई आपकी सेवा भक्ति करता है तो फिर आप उससे कुछ छिपाते भी नहीं अर्थात् उसे तुरन्त ही सर्वसंपत्ति का स्वामी बना पूर्णरहस्यवित् भी कर देते हो। हे शिवजी इसही से लोग आपको आशुतोष कहते हैं। 'आशुतोष तुम औढरदानी'—अर्थात् दान देते समय अन्यदाता जन तो अपने से व्यतिरिक्त पदार्थों हीं का दान करते हैं परन्तु आप अपने आपही को अपने भक्तजनों को दे डालते हो इससे बढ़कर और दान में दिया ही क्या जा सकता है।

अनलम् :—न अलम् पर्याप्तम् इति अनलम्। अर्थात् समर्थ नहीं हुए, अपर्याप्त ही रहे।

अनलस्कंधवपुषः :—नक्षत्रग्रहताराविभूषितशरीरस्य। अनलस्य स्कंधः अनलस्कंधः, अनलस्कंधः अग्निराशिः इव वपुः शरीरम् यस्य सः तस्य अनलस्कंधवपुषः। अर्थात् अग्निपुंज शरीर वाले आपके।

गिरिश :—गिरौ कैलासपर्वते शेते यः सः गिरिशः (गिरिशयः गिरिशंतो वा)

भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्याम् ताभ्याम् :—भक्तिश्च श्रद्धाच भक्तिश्रद्धे तयोः भरः अतिशयः भक्तिश्रद्धाभरः तेन गुरु श्रेष्ठं यथा स्यात् तथा गृणन् तस्मै गृणद्भ्याम् भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्याम्। अर्थात् कायिकमानसिकभक्तियुक्त अत्यन्त सारपूर्ण और गंभीर विधि से स्तवन करने वाले उन दोनों के लिये।

स्वयं तस्थे :-स्वतः प्रचकाशे, न तु तयोः प्रयत्नपरवशीभूतं आविर्बभूव अर्थात् स्वयं अपनी अनुग्रह वश नकि उनके प्रयत्न के वशीभूत होकर प्रकट हुवा।

अनुवृत्तिः :-अनुकूला वृत्तिः वर्तनम्, सेवेत्यर्थः । अनुकूल वर्तन नाम कायिक वाचिक मानसिक सेवा इत्यादि का है ।

... ...

श्लोकसंगति :-पूर्व के श्लोक में आदिम निष्कामभक्त ब्रह्मा और विष्णु भगवान की, भक्ति के पूर्व और भक्ति के बाद, दोनों प्रकार की स्थितियों का वर्णन कर, अब अन्य सकाम असुर भक्तों पर किये गये अनुग्रह तथा उनकी चपलता और धृष्टता का वर्णन किया जायगा । भगवान शिवजी की सुरासुर दोनों समभाव से सेवा करते हैं, वे सबके माता पिता हैं, सबही की इच्छा पूरी करते हैं और सबही का शासन करने में पर्याप्त हैं ।

अयत्नादापाद्य[1] त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकंडूपरवशान् ।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥११॥

अन्वय :-(हे) त्रिपुरहर ! यत् दशास्यः त्रिभुवनम् अयत्नात् (एव) अवैरव्यतिकरम् आपाद्य, रणकंडूपरवशान् बाहून् अभृत, (तत्) इदम् शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः स्थिरायाः त्वद्भक्तेः विस्फूर्जितम् ॥

संस्कृतार्थ :-हे त्रिपुरनाशक ! यद्दशमौलीरावणस्त्रैलोक्यमनायासेनैव प्रतिभटरहितं कृत्वापि स्वविंशतिभुजान् रणचपलानेवावहत्तत्सर्वं त्वत्पादपद्मयोरुपहारीकृतमौलिमालस्य तस्य त्वय्यतिदृढाया अनन्यायाः परमभक्तेः फलम् ।

सर्वेवीरास्त्रिभुवनैकवीरस्य रावणस्य प्रतापबलैश्वर्यश्रवणमात्रेणैव कंपितहृदया विस्रंसितधैर्यास्तस्य शरणं ययुः । एवं त्रैलोक्यमप्यात्मविरोधरहितं कुर्वंतस्तस्य न कोऽपिश्रमो बभूव । त्रिभुवनेऽपि निःशेषितामित्रस्य तस्य भुजानां रणमर्दनसुखस्पृहाऽतृप्तैवाभूत् । त्वदनन्यभक्तस्य रावणस्यैतत्सर्वमतुलमैश्वर्यम् त्वत्पादपद्मोपरि कंदुकवत् स्वशिरोपंक्तिबलिदानस्य महत्फलमित्येव तर्कयामि ।

---

१ आसाद्य इत्यपि पाठः दृश्यते

भाषार्थ :—हे त्रिपुरनाशक ! जो यह बात पाई गई कि दशमुख रावण ने विना श्रम किये ही तीनों लोकों को अपने वैरियों से साफ कर दिया और फिर भी उसकी वीसों भुजायें युद्धार्थ खजुवाती ही रहीं, सो यह निश्चय करके उसकी उस दृढ़ और अनन्यभक्ति का परंफल है कि जिस भक्ति के वशीभूत हो उसने आपके दोनों चरणकमलों पर अपने अनेक शिरों की बलि इस निरपेक्षता से चढ़ाई मानों वे उसके सिर न होकर केवल मात्र पद्म ही हों।

अयत्नात् :—अनायासेन, सुखेन वा। इशारे से, विना किसी प्रकार का कष्ट उठाये हुये।

अवैरव्यतिकरम् :—वैरस्य द्वेषभावस्य व्यतिकरः संमिश्रणं,वैरव्यतिकरः नास्ति वैरव्यतिकरः यस्मिन् तत् अवैरव्यतिकरम्। अर्थात् रावण ने त्रिलोक में अपने शत्रुओं की इस भांत सफाई की कि फिर कहीं वैरभाव की मिलावट तक भी उसके विपरीत देखने में न आती थी,फिर भला सोलहो आने शत्रुता करने वाले की तो बात ही कौन चलावे।

रणकंडूपरवशान् बाहून् अभृत :—अर्थात् इस सुख से उसने तीनों लोक जीत लिये कि त्रिलोक में कहीं उसे अपने उपयुक्त प्रतिमल्ल ही न मिला और इस कारण उसकी भुजाओं की खजुलाहट भी वैसी की वैसी ही बनी रही।

शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबले :—शिरांसि एव पद्मानि तेषां श्रेणी पंक्तिः, शिरःपद्मश्रेणी तया रचिता कल्पिता चरणाम्भोरुहयोः बलिः पूजोपहारः यस्यां सा तस्याः। जिस भक्ति के वश रावण ने अपने मस्तक रूपी कमलों की पंक्ति आपके चरण कमलों पर बलिवत् वारंवार चढ़ाई।

स्थिरायाः :—दृढसंकल्पायाः दृढ़संकल्पवाली।

विस्फूर्जितम् :—डंके की चोट प्राप्त होने वाला शानदार नतीजा।

... ...

श्लोकसंगति :—निग्रह अनुग्रह समर्थ शिवजी का इस श्लोक में घमंडी रावण को दंड देना दिखाया गया है।

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलितांगुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

अन्वयः—त्वदधिवसतौ कैलासे अपि त्वत्सेवासमधिगतसारम् भुजवनम् बलात् विक्रमयतः अमुष्य (रावणस्य) प्रतिष्ठा त्वयि अलसचलितांगुष्ठशिरसि (सति) पाताले अपि अलभ्या आसीत्, ध्रुवम् उपचितः खलः मुह्यति ।

संस्कृतार्थ :—त्वदीयोपासनोपचितबलवीर्यैर्निजभुजग्रामैस्त्वन्निवासस्थानं कैलासगिरिमपि हठादुत्पाटयन्तममुं रावणं स्वपादांगुष्ठमूर्धानमनायासेन मंदं कंपयन्भवान्पातालादप्यधोलोकं संप्रेषितवान् । निश्चितं प्राप्तैश्वर्यस्समूढो दुष्ट उद्धतो भवति (अतएव शासनीयस्स्यात्) । भवतः प्राप्तबलवीर्यो रावणो भवन्तमेव बाधितुमुद्यमत इत्यहो कृतघ्नता खलानामनुशासनीयानाम् ।

भाषार्थ :—आपही की उपासना द्वारा समृद्धबलवीर्य वाली भुजाओं को आपही के निवासस्थान कैलास गिरि के बलपूर्वक उखाड़ने में लगाने वाले उस (रावण) को, आपके अनायास धीरे से पदांगुष्ठनख के हिलाते ही फिर पाताल में भी जगह न मिली । सच है मुटाने पर दुष्ट जन बेहोश हो उठते हैं ।

त्वत्सेवासमधिगतसारम् :—तव सेवा त्वत्सेवा तया समधिगतं प्राप्तं सारं बलं येन तम् (भुजवनं) । आपही की सेवा से प्राप्त हुआ है बल जिन्हें (ऐसी भुजाओं को)

भुजवनं :—भुजसमूहम्, भुजग्रामम्, अर्थात् बाहुसमूह । मानो किसी पेड़ में बहुत सी शाखें निकली हों ऐसी ध्वनि तथा दृश्य है ।

अलसचलितांगुष्ठशिरसि :—अलसं मन्दं यथा स्यात् तथा चलितं कंपितम् अंगुष्ठाग्रम् यस्य सः तस्मिन् । अर्थात् धीरे से आपके अंगूठे के नख के हिलते ही ।

पौराणिकप्रसंग :—वाल्मीकीय रामायण में रावण संबन्धी इस आख्यान को इस भांति दिया है ।

स जित्वा धनदं राम भ्रातरं राक्षसाधिपः ।
.... ययौ शरवणं महत्
प्रेक्षते पुष्पकं तत्र राम विष्टंभितं तदा
अचिंतयद्राक्षसेंद्रः ....
किंनिमित्तं चेच्छया मे नेदं गच्छति पुष्पकम्
... ...
ततः पार्श्वमुपागम्य भवस्यानुचरोऽब्रवीत्
... ...
निवर्तस्व दशग्रीव शैले क्रीडति शंकरः
... ...
सर्वेषामेव भूतानामगम्यः पर्वतः कृतः
... ...
पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः
तमिमं शैलमुन्मूलं करोमि तव गोपते
एवमुक्त्वा ततो राम भुजान् विक्षिप्य पर्वते
तोलयामास तं शीघ्रं स शैलः समकंपत
चालनात्पर्वतस्यैव गणा देवस्य कंपिताः
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम्
ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः
पादांगुष्ठेन तं शैलं पीडयामास लीलया
पीडितास्तु ततस्तस्य शैलस्तंभोपमा भुजाः
... ...
रक्षसा तेन रोषाच्च भुजानां पीडनात्तथा
मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कंपितम्
... ...
एवमुक्तस्तदामात्यैस्तुष्टाव वृषभध्वजम्
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः
संवत्सरसहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम्

ततः प्रीतो महादेवः.........................
मुक्त्वा चास्य भुजान्नाम प्राह वाक्यं दशाननम्
प्रीतोऽस्मि..............................
शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वया रावः सुदारुणः
... ...
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि
.................................इत्यादि (वाल्मी—उत्तर—१६)

भावार्थ :—रावण जब कुबेर को जीत पुष्पक द्वारा लौटा तब शरवण के निकट उसका पुष्पक स्वतः रुक गया। वह सोचने लगा कि किस कारण किसकी इच्छा से मेरा यह विमान रुका। मंत्री आदि भिन्न भिन्न प्रकार की तर्कणा कर ही रहे थे कि इतने में भगवान शिवजी के गणने आकर उससे कहा कि हे रावण इधर से लौट दूसरे मार्ग से जाव क्यों कि यह मार्ग इस समय पर्वत पर भगवान शंकर और पार्वतीजी की क्रीड़ा के कारण बंद करा दिया गया है। घमंडी रावण भला यह कब सहन कर सकता था। उसने कहा कि मेरे पुष्पक की गति रोकने के कारण मैं इस पर्वत ही को न रक्खूंगा लौटने की तो बात ही क्या। इतना कह और भुजाओं को लगा उस पर्वत श्रृङ्ग को उठा लिया। पर्वत कांपने लगा, गण डर गये और भगवती शिवा शिव की गोदी में जा छिपीं। भगवान शंकरजी ने उसके इस घमंड का शासन करने के लिये धीरे से अपने अंगूठे को ज्योंही दबाया त्योंही उसकी भुजाओं को दबाता हुआ पर्वत जहां का तहां जा बैठा और रावण की भुजाएं उसमें ज्यों की त्यों दबी रह गईं। उसके सर्व मंत्रियों और पूर्ण सेना ने जीवशक्य सर्व प्रयत्न उसकी भुजाएं छुटाने के लिये किया परन्तु फल कुछ न हुआ तब मंत्रियों ने कहा कि हे रावण शिवजी के अपमान के कारण तुम इस अवस्था को पहुँचे हो अतएव शिवाराधन करो। उनके ऐसा कहने पर रावण ने शिवजी की विविध स्तोत्रों से स्तुति प्रारम्भ की। सहस्त्रवर्ष तक इस भांत शिवाराधन करने पर भगवान शंकर प्रसन्न हुए और उन्होंने आकर कृपा-पूर्वक उसकी बाहें पहाड़ से निकाल दीं। और चूंकि भुजाओं की पीड़ा वश उसके घोर रूपसे रोने और चिल्लाने के कारण तीनों लोकों के कान फटा करते थे इस कारण कौतुकी शंकरजी ने उसका नाम रावण रक्खा और भी...इत्यादि

इस उपरोक्त आख्यान और अन्य पुराणों में वर्णित इस प्रसंग में बहुत

अन्तर है। पुराणों का मत श्रीमधुसूदनस्वामी अवतरण द्वारा अपने भाष्य में यों देते हैं। "एवंहि पुराणप्रसिद्धम्, भगवत्प्रसादादासादितबलेन रावणेन स्वबलपरीक्षार्थं भगवन्निवासस्यापि कैलासस्योत्पाटनमारब्धम्। ततश्च पार्वत्या भीतया प्रार्थितो भगवान्कैलासस्याधोगमनार्थमंगुष्ठाग्रमात्रं शनैर्व्यापारयामास तावन्मात्रेणैव क्षीणबलो रावणः पातालं प्रविवेश। पुनश्च भगवता करुणया समुधृत इति"—अर्थात् पुराणों में यों प्रसिद्ध है कि भगवान की कृपा से प्राप्त बल वाले रावण ने अपने बल की परीक्षार्थ भगवान के निवासस्थान कैलास ही को उखाड़ना प्रारम्भ किया। जब पार्वती ने डरकर प्रार्थना की तो शंकरजी ने कैलास को नीचे दबाने के लिये अपने अंगूठे की नोक को धीरे से हिला दिया। उतने ही से क्षीणबल रावण पाताल में पहुँच गया। फिर भगवान ने कृपाकर उसका उद्धार किया इत्यादि।

वाल्मीकीय रामायण में (जिसका पूरा अवतरण ऊपर नहीं दिया गया है) जिस भांत यह प्रसंग वर्णित है उससे विदित होता है कि मानों इस घटना के पूर्व रावण शिवजी का भक्त नहीं था और न उनके प्रभाव को ही जानता था। क्योंकि नंदीश्वर के रोकने पर रावण कहता है "कोऽयँ शंकरः" अरे कौन महादेव, कहाँ के हैं। और फिर पर्वत उखाड़ने के समय कहता है "केन प्रभावेण भवो नित्यंक्रीडति राजवत्, विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम्" अर्थात् किस बल से शिवजी हमेशा राजा की भांति विहार करते हैं (अर्थात् जिस तरह राजाओं के लिये मार्ग इत्यादि रोक दिये जाते हैं इस भांति मार्ग बंदकर विहार करते हैं) और उन्हे जानने योग्य इस बात का भी पता नहीं है कि डरने योग्य मैं आ पहुँचा हूँ, अर्थात् यदि वो राजा हों तो मैं सम्राट् हूँ इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण के हिसाब से इसके पूर्व रावण को केवल ब्रह्माही जीका वर था क्योंकि उसमें यों लिखा है "दशवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः। पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः॥ एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः। शिरांसि नवचाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम्॥ अथवर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः। छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः"॥ अर्थात् रावण ने दशहजार वर्ष तक निराहार रहकर व्रत किया। प्रति हजारवें वर्ष वह अपना एक शिर काट अग्नि में आहुति दे देता था। इस तरह नव हजार वर्ष में उसके नौ शिर आहुत हो चुके थे। दशवें हजार वर्ष जब वह अपना दशवां शिर भी काटने चला तब ब्रह्माजी आगये और वर दिया इत्यादि। इस तरह वाल्मीकीय रामायण के अनु-

सार रावण ने अपने शिरों द्वारा यज्ञ कर ब्रह्माजी को प्रसन्न किया था न कि उसने उन्हें शिवजी के ऊपर चढ़ाया था जैसा कि इस स्तोत्र के ११ वें श्लोक से प्रतीत होता है। वाल्मीकीय रामायण में इसही पहाड़ उठाने वाली घटना से रावण को शिव प्रभाव का ज्ञान होता है और इस घटना के उपरान्त ही वह शिवजी से मनमानी आयु और चंद्रहास तलवार इत्यादि प्राप्त करता है।

इस विरोध का समन्वय विद्वानों द्वारा अनुसंधनीय है।

... ...

श्लोकसंगति :—इस श्लोक में जगत्प्रसिद्धबाणासुर की भक्ति तथा उसके फल स्वरूप उसकी संपत्ति का वर्णन कर भगवान शिवजी की महिमा का विस्तार किया गया है।

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती–
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो–
र्न कस्या[1] उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥१२॥

अन्वय :—(हे) वरद ! यत् परिजनविधेयत्रिभुवनः बाणः सुत्राम्णः ऋद्धिम् परमोच्चैः सतीम् अपि अधश्चक्रे तत् त्वच्चरणयोः वरिवसितरि तस्मिन् न चित्रम् (अस्ति)। त्वयि शिरसः अवनतिः कस्यै उन्नत्यै न भवति।

संस्कृतार्थ :—हे वरद ! यद्गृहकुंभदासीकृताखिललोकः त्रिभुवनजयी बाणासुर इन्द्रस्याप्यत्यभ्युच्छ्रितां संपत्तिं प्रत्यादिदेश तत्त्वत्पादपद्मयोः कृतप्रणामे तस्मिन्नात्यपूर्वम्। त्वयि प्रह्वीभावः कं कमभ्युदयं न ददाति । तृणीकृतजगत्रयै-श्वर्यस्त्वद्भक्तिप्रभावो जनस्यापूर्वाभ्युदयाय निःश्रेयसायच भवतीत्यर्थः।

---

१ कस्याप्युन्नत्यै इत्यपि पाठः क्वचित्।

भाषार्थ :—हे वरद ! तीनों लोकों को दासवत् स्ववश कर लेने वाले बाणासुर ने यदि इन्द्र की अति अभ्युन्नत समृद्धि को भी नीचा दिखा दिया तो आपके चरणों में नमस्कार करने वाले उसके लिए कोई अपूर्व आश्चर्य की बात न थी (क्योंकि ऐसा तो सदा ही होता आया है कि आपके भक्त की ऐसी ही उन्नति हो)। जो आपको शिर नमाता है उसकी क्या २ उन्नतियां नहीं होतीं। (अर्थात् मुक्ति तक प्राप्त हो जाती है जगत् के ऐश्वर्य की कौन कहे)

परिजनविधेयत्रिभुवनः :—परिजनवत् दासजनवत् विधेयं वश्यं किंकरो वा त्रिभुवनम् अखिलजनः यस्य सः। अर्थात् तीनों लोकों के वासी इस भांति उसकी आज्ञा पालते थे मानों वे उसके घरेलू नौकर हों !

... ...

श्लोकसङ्गति :—संसार में ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवजी संसार का नाश करते हैं सो ऐसा नहीं, वास्तव में तो वे ही इस जगत के रक्षक हैं, केवल भक्षक तो वे उस जगतभ्रम या अज्ञान के हैं 'जा बश जीव पड़ा भवकूपा'

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः ॥१४॥

अन्वयः :—(हे) त्रिनयन ! अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-विधेयस्य (अतएव) विषम् संहृतवतः तव कण्ठे यः कल्माषः आसीत् सः (कल्माषः तव कण्ठे) श्रियम् न कुरुते (इति) न। अहो भुवनभयभंगव्यसनिनः (तव) विकारः अपि श्लाघ्यः (भवति)।

संस्कृतार्थ :—हे त्रिनेत्र ! असमये ब्रह्माण्डनाशभयभीतदेवासुरेष्वनुग्रहं कृत्वा कालकूटं पीतवतस्तव कंठे यः कालिमा संजातस्स कालिमा तत्रानुपमामेव लक्ष्मीं तनोति। अहो लोकत्राणहेतुका विकृतिरपि तव शोभायै न तु वैरूप्यायेति।

समुद्रमथनोद्भूतं हालाहलं दृष्ट्वा सर्वे देवासुरा अकालप्रलयोऽयमुपस्थित इति मत्वा महाभयं भेजिरे । आत्मनाशभयकंपमानगात्रेषु स्तुवत्सु देवासुरेषु परममनुग्रहं कुर्वता भवता तदनन्यप्रतीकारं कालकूटमापीतम् । एवं जगद्भया-पहारिणस्तव नीलकंठेति नाम सुकीर्तिर्नतु विरूपता ।

भाषार्थ :—हे तीन नेत्र वाले शिवजी ! असमय में ही ब्रह्माण्ड नाश हो रहा है इस भय से भयभीत देवासुरों पर कृपा करके कालकूट विष पी लेने वाले आपके कंठ में जो कालिमा उत्पन्न हो गई है वह क्या आपको शोभा नहीं बढ़ाती (नहीं बढ़ाती ही है) अहाहा ! जगतभयनाश करने में लगे हुये आपके अंगका विकार भी अत्यन्ता प्रशंसायोग्य ही है ।

भावार्थ :—हे शिवजी ! अपनी चपलप्रवृत्ति के वशीभूत होकर ही देवासुरों ने आपस में साझा कर समुद्रमथन का कार्य प्रारम्भ किया था । उसमें न आपकी कोई अनुमति थी न आपका कोई स्वार्थ या साझा ही था । उस बालो-चित चपलता का फलस्वरूप एक समय ऐसा आ उपस्थित हुआ कि समुद्र-मथनोत्पन्न कालकूट विष से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही भस्म होने लगा । लड़के बहुधा खेल में घर फूंक तमाशा देखते हैं । जब वह हालाहल सामने फुफकार मारने लगा तब औरों की क्या कहें चौदह आने के पत्तीदार साक्षात् विष्णु भगवान ही बगलें ताकने लगे । न तो वह कौस्तुभमणि ही था कि गले में धारण करते, न वह पतली कमर वाली सुन्दरी लक्ष्मी था कि पैर दाबने के काम आता, आखिर विचारे उसे अपने भाग में लेते तो लेकर करते क्या।संभावना थी कि उलटे देव-समाज बहिष्कृत हो जाते क्योंकि ऐसे विषप्रयोगी (Poison dealer) के पास फटकता ही कौन । रहे अन्य देवता उनमें कुछ विचारे तो समुद्र के किनारे घोड़ा हांथी ही मात्र खरीदने आये थे । दूसरे जो सूचीपत्र या प्रास्पेक्टस (Prospectus) उस कंपनी के सिक्रेटरी इन्द्रजीने प्रारम्भमें निकाला था उसमें विषका तो कहीं नाम तक भी न था । उसमें तो लिखा था कि यह कम्पनी एक ऐसी अपूर्व वस्तु समुद्र से निकालेगी कि जिसके खाने से मृत्युलोक के प्राणी भी अमर हो जांयगे—"यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत्" इत्यादि । यह विष बिल्कुल आशा के विपरीत (Ultra vires) समुद्र से निकल पड़ा । उस अपूर्व पदार्थ की प्रतिक्रिया के लिये उन सबको केवल मात्र एक आपही शरण देख पड़े ।

वे सब, हे शिवजी ! आपकी शरण आये और लगे स्तुति करने । आखिर अब और विचारों के पास थाही क्या । साक्षात् यह कहते उन स्वार्थियों को भी बड़ी लज्जा लग रही थी कि हे शिवजी आप हमारे लाभ के लिये विष पान करलें । हे शिवजी आप उनका तात्पर्य तुरंत समझ गये । आप उस कठिन मामले में आखिर सलाह लेते तो लेते किससे, सारा जगत तो उस समय अपने स्वार्थवश आपको विष पिलाही रहा था । हे शिवजी आपतो आत्माराम हैं आपको जीवन-मरण विष अमृत सब समान है, सुख दुःख एक रूप है परन्तु तब भी व्यवहार दृष्टि से इस कठिन प्रसंग के समय आपका भगवती पार्वतीजी से अनुमति मांगना मुनासिब ही था क्योंकि वो भी तो अर्धाङ्गिनी थीं । "तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः । सर्वभूतसुहृद्देव इदमाह सतीम् प्रियाम् ॥" अर्थात् अपनी प्रजा को उस भांत दुखी देखकर करुणान्वित हो प्रिय सती से बोले ।

शिव उवाच :-अहोबत्भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम् । क्षीरोदमथनोद्भूतात्कालकूटादुपस्थितम् ॥ ………॥………। तस्मादिदं गरं भुंजे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥ एवमामन्त्र्य भगवान् भवानीं विश्वभावनः । तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञाऽन्वमोदत ॥ ततःकरतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषं । अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥ तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः । यच्चकार गलेनीलं तच्चसाधोर्विभूषणम् ॥

—भागवत ८-६

शिव जी बोले कि हे भगवती आप देख ही रही हैं कि इस समुद्रमथनोत्पन्न विष से आपकी प्रजा किस भांत नाश होने जा रही है (अब जगत में हम हीं सब से बड़े हैं यदि हम हीं इनकी रक्षा न करेंगे तो कौन सहायता करेगा) अतएव हे देवि हम प्रजा की भलाई के हेतु इस विष का भक्षण करेंगे आप अनुमति दीजिये । इस तरह भगवती से बिदा लेकर हे शिवजी आपने विष भक्षण करना प्रारंभ किया । पार्वती जी भी आपकी अपूर्व महिमा जानती थीं अतएव उन्होंने भी अनुमति दे दी । तब हे शिव जी आपने उस विष को जो अत्यन्त फैलने वाला था अपनी हथेली पर लिया और संसार के हित के लिये उसको भक्षण किया । इससे यह बात नहीं है कि आपको कष्ट नहीं हुआ या वह विष कोई धोखा था । उस विष ने भी अपनी महिमा आपको दिखाई और आपका गला काला कर डाला । पर हित साधने वाले आपके गले में वह भूषण ही है ।

हे शिवजी ! देवताओं ने तो अमृत पिया, परन्तु आपने सबके लियेजो दुष्कर कर्म किया उससे आज तक ग्रीष्म ऋतु में आपको बड़ा कष्ट रहता है और श्री गंगाजी भी पूर्ण प्रवाह से आपके मस्तक को ठंढा नहीं कर पातीं अतएव ग्रीष्म में बहुत दुबला जाती है। आपके अगणित भक्त आपके इस कष्ट का अनुमान कर आपके मस्तक पर बूंद बूंद जल टपकाया करते हैं। स्यात् इससे कुछ आपको लाभ होता हो। हे शिवजी आपके उस अपूर्व त्याग की महिमा जो जन समझें वे आपकी जिस प्रकार सेवा पूजा करें सो थोड़ी ही है। हे शिवजी वह विष जो आप किसी समय पी चुके हैं नष्ट नहीं हुवा है उसे आप धारण ही मात्र किये हैं। जब इस जगत के प्राणी आपके उस महान् त्याग को भूल, आपको भूल जांयगे तो हे शिवजीं यह भी सत्य ही है कि फिर उन कृतघ्नों के लिये आप काहे को और अधिक कष्ट सहेंगे। और निश्चय करके उन कृतघ्नों के पूर्वजों की उस घोर धरोहर को आप अपने पास से हटा उन दुष्ट संतानों को सौंप देंगे। यदि इस धरोहर सौंपने के लिये कोई बुरा मान कर आपको जगत नाशक कहे तो कहा करे।

अकांडब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपाविधेयस्य :—नास्ति काण्डम् अवसरः उचितकालः यस्य तत् अकाण्डम्। अकांडे असमये ब्रह्मांडस्य क्षयः नाशः तस्मात् चकिताः भीताः देवाश्चसुराश्च देवासुराः तेषु कृपा दया तया विधेयः वशीकृतः य सः तस्य अकांडब्रह्मांडक्षयचकितदेवासुरकृपाविधेयस्य अर्थात् जिसका मुनासिब समय था नहीं ऐसे असमय प्राप्त ब्रह्मांड नाश के भय से भयभीत देवता और असुर लोगों पर जो आपकी करुणा उस करुणा के वशीभूत होकर आपने।

भुवनभयभंगव्यसनिन :—भुवनस्य लोकस्य भयं त्रासः तस्य भंगः समूलनाशः सः एव व्यसनं अनन्यभावव्यापारः तत् यस्यास्ति तस्य भुवनभय-भंगव्यसनिनः अर्थात् जगत के भय को समूल नाश करने में जो अनन्य भाव से लगे हैं ऐसे वो शिवजी।

... ...

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥१५॥

अन्वयः :—(हे) ईश ! यस्य (स्मरस्य) विशिखाः सदेवासुरनरे जगति नित्यम् जयिनः क्वचित् अपि असिद्धार्थाः नैव निवर्तन्ते सः स्मरः त्वाम् इतरसुर-साधारणम् पश्यन् स्मर्तव्यात्मा अभूत्। हि वशिषु परिभवः पथ्यः न (भवति)।

संस्कृतार्थः :—हे जगत्स्वामिन्प्रभो ! यस्य कामदेवस्य बाणा देवासुरनरादिसहिते संपूर्णे विश्वे सदैव जिष्णवस्सर्वत्रैव सफलमनोरथा भवन्ति स एव जगज्जयी कुसुमायुधस्त्वामपीतरदेवतुल्यं मन्यमानस्तथैव चेष्टमानोऽचिराद्भस्मत्वं गतः। निश्चयं दांतशांतजनावज्ञा हिताय न भवति।

श्रूयते हि पुरा कामदेवोऽपि विग्रहवानासीत्। स एकदा तारकासुरभय-पीडितैर्देवैर्याच्यमानो भगवति शंकरेऽपि स्वचेष्टां जनयितुमुद्युक्तो बभूव। ततो-भगवान्पिनाकी तथानाचरन्तं तं भस्मीभूतंचकार। ततः प्रभृति कामोऽनंगत्वं गतः।

भाषार्थ :—हे सबको वश में रखने वाले शिवजी ! जिस (कामदेव) के बाण देवासुरनरादि जगत के संपूर्ण जीव जन्तुओं तक में सर्वत्रविजयी ही रहे और जो कदापि कहीं से भी विना अपना मतलब पूरा किये नहीं लौटते, उस कामदेव को भी आपने, जब उसने आपको भी इतरजन सामान्य दृष्टि से देखा तब केवल स्मरणीयमात्र ही (शरीर रहित) बना कर छोड़ा। (अतएव) निश्चय करके आत्मवशी जनों में अनादर लाभदायी नहीं होता।

भावार्थ :—हे जगद्गुरो शिवजी ! यदि जगत में सचमुच कोई सच्चा वीर है तो वह कामदेव है क्योंकि वह केवल मात्र कुसुम बाणों ही से इस विश्व में बड़े से बड़े देवता और छोटे से छोटे जीव जन्तुओं तक को जीत लेता है। अन्य वीरों को तो यदा कदा कहीं २ पराभव भी प्राप्त हो जाता है और यदि सफल भी हुवे तो जयोपरान्त भी (अलाउद्दीन की भांति चित्तौड़ से) मनोरथ

पूर्ण किये विना ही लौटना होता है परन्तु भगवान कुसुमायुध में ये सब त्रुटियाँ नहीं। ऐसे जगज्जयी कामदेव ने यदि थोड़ी देर घमंड भी किया हो तो हे शिवजी वह तो क्षम्य सा था कारण कि यदि कामदेव भी अहंकार न करेगा तो फिर अहंकार इस विश्व में किस के सहारे होकर रह सकता है। हाँ यह निश्चय है कि उसको जगज्जय दर्पवश अपने सिरजन हारे आपही के सम्मुख उस भांत सिर न उठाना चाहिये था कि मानो आप भी एक साधारण देव विशेष ही तो हो। यदि उसने ऐसा किया तो किसी का अभिमान न रहने देने वाले हे शिवजी आपने उसे जो दंड दिया सो उचित ही हुवा, क्योंकि उसकी धृष्टता भी कुछ सामान्य न थी :—

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य ।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥
स दक्षिणापांगनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुंचितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभंगदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

कुमारसंभवे ३,६९-७२

हे त्रिनेत्र, उस समय आपकी इन्द्रियाँ भी क्षुभित हो उठीं थीं परन्तु सदा के संयमी आपने उन्हे बलपूर्वक दबा कर मनमें सोचा कि यह अनहोनी आज कैसे हुई, निश्चय इसका कोई विशेष कारण होगा । ऐसा विचार अपने मनो विकार का कारण जानने के हेतु जो आपने अपने चारों ओर दृष्टि डाली तो आप क्या देखते हैं कि वह कामदेव दाहिने हाथ की मूठ बांधे कंधा झुकाए और बांया पैर पीछे हटाए, धनुष को चक्राकार किये हुए, स्वयंभू भगवान आपही पर बाण चलाना चाहता है । उसकी ऐसी धृष्टता देख और यह देख कि वह तपभंग

करने में भी नहीं भय खाता आपका क्रोध भड़क उठा और आपकी भौहों के तनने से आपका मुख विकराल हो गया। ऐसी बेसुधी के समय में एकाएक आपके तीसरे नेत्र से भड़कती हुई अग्नि भी निकल ही तो पड़ी। बस फिर क्या था, ऊपर आकाश में देवताओं की यह प्रार्थना कि 'हे प्रभो क्रोध शांत कीजिये, क्रोध शांत कीजिये', जब तक वायुमंडल चीरती हुई आपतक पहुँचे पहुँचे तब तक आपके तृतीय नेत्र से उत्पन्न उस प्रलयाग्नि ने कामदेव को जलाकर राख कर ही तो डाला। भला इसमें आपका दोष ही क्या था। यह तो सब काम बेखुदी में हो गया। हाँ इससे सबको सदा के लिये यह शिक्षा निश्चय मिल गई कि आत्मवशी जनों के साथ दिल्लगी करने में लेने के देने पड़ जाते हैं।

इतरसुरसाधारणम् :—इतरसुरवत् साधारणम् यथा स्यात् तथा। अर्थात् उसही साधारण दृष्टि से देखता या व्यवहार करता हुआ कि जिस भांत अन्य साधारण देवों को देखता था।

स्मर्तव्यात्मा :—स्मर्तव्यः स्मरणीयताम् गतः आत्मा शरीरम् यस्य सः। अर्थात् जो नाम मात्र रह गया और जिसका शरीर नष्ट हो गया।

... ...

श्लोकसंगति :—जगत की रक्षा के लिये जो शिवनर्तन अर्थात् तांडव उसका इस श्लोक में वर्णन किया जाता है।

मही पादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

अन्वय :—मही पादाघातात् सहसा संशयपदं व्रजति, विष्णोःपदं भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् (भवति), द्यौः अनिभृतजटाताडिततटा मुहुः दौस्थ्यम् याति, (एवम्) जगद्रक्षायै त्वम् नटसि। ननु विभुता वामा एव (भवति)।

संस्कृतार्थ :—तांडवं नृत्यतस्तवेतस्ततः पादनिक्षेपणादियं पृथिव्येकपदेऽ धःप्रष्टा भविष्यामीति संशयिता भवति। तथाभिनयतस्तव संचलद्भुजदंडैरंतरिक्षलोकस्थग्रहनक्षत्रतारासमूहा हतप्रभा भवन्ति। असंवृताभिर्जटाभिर्वायुमंडले-प्रसर्पन्तीभिरभिहतप्रान्तदेशस्स्वर्लोकोऽपि वारं वारमुन्मूलित इवात्मानम्मन्यते। जगत्परिपालनायैव त्वमेवंविधे तांडवे प्रवृत्तो भवसि। अहो प्रभूणां चरितं यदनुकूलमपि प्रतिकूलमिव दृश्यते।

भाषार्थ :—आपके पादाभिघात से ये पृथिवी एकदम संदेह में पड़ जाती है। आपके परिघवत् दोनों भुजाओं के इधर उधर परिभ्रमण करने के कारण अंतरिक्ष लोक के सब ग्रहनक्षत्र तारागण प्रभाहीन से हो जाते हैं। आपकी खुली जटाऐं स्वर्गलोक तक फटकार मारतीं हुई वार वार उसे (स्वर्गलोक को) उखाड़ती सी है। जगत की रक्षा ही के लिये इस भांत आप नाचते हैं। बड़ों के चरित बहुधा (समझ में न आने के कारण) उलटे से प्रतीत होते हैं।

भावार्थ :—हे शिवजी! जगत की ये जो चौरासी लक्ष योनियां प्राणित हो रही हैं, ये जो अनेकानेक ग्रहसमूह अपनी कक्षा में परिभ्रमण करते हुए आपस में लड़ नहीं जाते, इन सब गतियों की मूल गति आपकी नाड़ी गति है। जिस भांति किसी कारखाने में एक इञ्जन की गति से बंधे होने के कारण अनेक प्रकार के कल पुर्जे और पहिये अनेक भांति की गतियां करते हैं उस ही भांति इस विश्व की अनेक विचित्र गतियाँ आपकी गति से बँधी है। आपका उठना फिरना चलना सोना सब कुछ इस जगत के अनेक प्रकार के आविर्भाव और तिरोभाव का कारण होता है। तब हे शिवजी ऐसे आपके अंगसंचालन यदि नृत्यमय न हों, यदि जनसाधारणवत् उच्छृङ्खल और नियमविहीन हों तो सारे ब्रह्मांड की फुलझड़ी एक ही रात्रि में छूट जाय। संपूर्ण ग्रहनक्षत्रतारा समूह आदि की गति विधि साधने का जो आपका प्रयत्न विशेष है वही आपका तांडव नृत्य है। ऐसे तो आपकी स्वांस प्रतिस्वांस, नाड़ी नाड़ी की गति नृत्यमय है परन्तु कभी कभी जब जगत में महान परिवर्तन करना आपको अभीष्ट होता है तब आप अपने तांडव की कोई नवीन नर्तनविधि प्रारम्भ करते हो। आपके ऐसा करते ही ब्रह्मांड में एक नवीन प्रकार की लहर आ जाती है और संपूर्ण जगत यथाशक्ति आपके उस ही नवीन अभिनय का अनुकरण करता है। इस नवीन नर्तन गति से, हे नटराज! जगत के कुछ लोक नष्ट हो जाते हैं और बहुत से

नवीन पैदा हो जाते हैं। इस ही आपके तांडव की एक छटा का नाम प्रलय और दूसरी का नाम उत्पत्ति है। हे नटराज! बड़े बड़े ऋषि मुनि भी आपकी नर्तन कला की महिमा नहीं समझ पाते हैं और यही कारण है कि ये पृथिवी कभी २ आपके पैरों की थपक से ऐसी हिलती सी है कि इस पृथिवी माता को प्रतीत होता है मानों अबकी वार अक्षच्युत होकर अनन्त शून्य में नष्ट हो जाऊँगी। जब आप नर्तन कलावश अपनी पीवर दृढ़ दीर्घ भुजाओं का इधर उधर संचालन करते हो तो अनेक नक्षत्र और तारागण उनकी लपेट में इस भांत इधर उधर हो जाते हैं मानों आकाश में बुहारी सी लग रही हो। भला ऐसी अंधाधुन्ध सी प्रतीत होने वाली स्थिति में यदि अंतरिक्ष लोक के नक्षत्र समूह रोगी से हतप्रभा विदित हों तो अचंभा ही क्या है। आपकी लम्बी लम्बी खुली जटाएँ कि जो श्री गंगाजी को बांध रखने में पर्याप्त है जब पूर्णतया चोटी से एड़ी तक खुल कर फिर फटकारी जाती हैं तब उनकी चोटों से स्वर्ग लोक तक इस भांत वारम्वार कांपता है मानों उसकी सब चूलें ढीली पड़ चुकी हों। इन सब घोर उत्पातों को आपही साधते भी हैं क्योंकि :—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतःस्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम्॥

(मुद्राराक्षसे)

अर्थात्

पादप्रहारसों जाइपताल न भूमि सवै तनु बोझ के मारे
हांथ नचाइवे सों नभ में इतके उत टूटि परें नहि तारे।
देखन सों जरिजांहिं न लोक न खोलत नैन कृपा उरधारे
यों थल के विनु कष्ट सों नाचत शर्व हरो दुख सर्व हमारे॥

(हरिश्चन्द्र)

हे शिवजी ! बारीकी यहां तक कि पृथिवी का जो २३½ अंश का झुकाव है उसकी रक्षा भी आप पादप्रहार ही से कर लेते हैं—अवनेः आविर्भवन्तीम् अवनतिम् पादस्य स्वैरपातैः रक्षतः—अर्थात् जब आप देखते हैं कि पृथिवी अधिक झुकती चली जाती है तब आप पैरों की थाप धीमी कर देते हैं । परन्तु जब आपको युगपरिवर्तन करना होता है तब, आपको आगामी युग के लिये पृथिवी के अक्ष की जितने अंश की अवनति अभीष्ट प्रतीत होती है उतने ही अंश पर उसको पैर की थापों ही से बांध भी देते हो ।

हे शिवजी ! संसार में ऐसा देखा जाता है कि छोटे छोटे राजा महाराजा भी जब कोई नवीन कार्य प्रारम्भ करते हैं तो अनेक लोगों के झोपड़े और घर उसको स्थान देने के लिये नष्ट हो जाते हैं । इसही भांत आपके तांडव से भी जो व्यक्तिगतरूप थोड़ा सा नाश होता है उसका भी मूलोद्देश्य सृष्टिपरिपालन ही है । परन्तु यदि बड़ों के कर्मों के सब रहस्य सबके बुद्धि गम्य हो जांय तो वे बड़े बड़े ही क्यों कहे जांय अतएव सच ही है कि प्रभुता भी एक बड़ी टेढ़ी खीर है ।

विष्णोः पदम् :—अंतरिक्षलोकः आकाशः वा अर्थात् अंतरिक्ष लोक या आकाश ।

भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् :—भुजौ परिघौ इव भुजपरिघौ भ्राम्यद्भिः भुजपरिघैः रुग्णाः पीडिताः ग्रहाणां गणा समूहाः यत्र तत् भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् अर्थात् घूमती हुई भुज परिघाओं के कारण रोगी से हो गये हैं ताराओं के समूह जिसमें ।

दौस्थ्यम्—दुःस्थत्वम् अर्थात् मुश्किल से अपने स्थान पर ठहर पाना ।

अनिभृतजटाताडिततटा—अनिभृताः असंवृताः जटाः शिरोरुहसमूहाः ताभिःताड़ितं जर्जरितम् तटं प्रान्तदेशो यस्याः सा अनिभृतजटाताडिततटा अर्थात् खुली हुई जटाओं से जर्जरित हो गये हैं किनारों के प्रदेश जिनके अर्थात् खुल कर फटकारे जाने पर जटाएं स्वर्गलोक तक जा पहुँचती हैं ।

समालोचना :—मधुसूदन स्वामी अपनी टीका में लिखते हैं 'तथा विष्णोःपदमन्तरिक्षं ·····················यत्र तत्तथा, संशयपदं व्रजतीत्यर्थः' अर्थात्

'संशयपदं व्रजति' इस पद की आवृति विष्णोःपदं के साथ भी अन्वय में अभिप्रेत है। जहाँ तक ये तुच्छ बुद्धि सोच सकी इस आवृति की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई। अतएव उस पद की आवृति न कर अन्वय पद इस भांत किया गया कि 'विष्णोःपदं भ्रास्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणं भवति' अर्थात् आकाश के तारे मलीन हो गये। विद्वानों को जैसा उचित प्रतीत हो वैसा अर्थ करें इसमें कोई विशेष अभिनिवेश नहीं है।

... ...

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

अन्वय :—वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः यः वाराम् प्रवाहः ते शिरसि पृषतलघुदृष्टः तेन जलधिवलयम् जगत् द्वीपाकारम् कृतम् इति। अनेन एव दिव्यम् तव वपुः धृतमहिम उन्नेयम्।

संस्कृतार्थ :—संपूर्णं नभस्तलमाच्छाद्य स्थितवती नभोगंगाधारा स्वांतःपात्यनेकतारासमूहबहुलीकृतफेनराशिच्छटा तव मूर्ध्नि जलबिंदुवदत्यल्पेव दृश्यमानापि निखिलामिमामुदधिमेखलां पृथिवीं द्वीपोपमां समपादयत्। अनेनैव लिंगेन त्वद्दैवशरीरस्यापूर्वमैश्वर्यं तर्कणीयम्।

या त्रिपथगागंगाकाशपृथिवीपातालेषु मंदाकिनीभागीरथीभोगवतीति संज्ञया जगत्प्रसिद्धा, यदीये वियत्प्रवाहेऽन्तःपात्यनेककोटितारासमूहास्तदुपचितफेनराशिरिव दृश्यमाना अपूर्वां शोभां वहन्ते, सैव गंगा त्वज्जटापिंजरावरुद्धा लुप्तप्रायाल्पोदजलबिंदुवदत्रतत्रान्वेषणीयतां गता। भगीरथतपोद्रवीभूतांतःकरणेन यदा त्वया सा स्वजटायाः प्रमोचिता तदा तयाऽचिरादेवागस्त्यनिःशेषपीतसमुद्रापीयं पृथिवी प्रचलदूर्मिमालासंकुलोदधिमेखलाविभूषिता ससप्तद्वीपा कृता। किन्त्वपर्याप्तमिदमुदाहरणं तव दिव्यशरीरस्य लोकोत्तरमहिमानं प्रकाशयितुम्।

भाषार्थ :–आपके मस्तक पर तो केवल मात्र एक छोटा सा जलबिंदुवत् दिखाई पड़ने वाला, परन्तु वास्तव में संपूर्ण नभस्तल को व्यापने वाला, आकाश गंगा का यह जलप्रवाह, कि जिसमें डूबे हुए अनेककोटितारासमूहों की छटा ऐसी प्रतीत होती है कि मानों वे उसके जलमें उत्पन्न फेन मात्र हो, (बाद को) इस संपूर्ण पृथिवी को (सात) समुद्रों की करधनी पहिना द्वीपाकार कर देता है। क्या इससे आपके दिव्य शरीर की लोकोत्तर महिमा का पर्याप्त पता नहीं लगता।

भावार्थ :–हे शिवजी! आप कोई शरीर विशेष हो या साक्षात् विराट पुरुष ही हो कि जिसका संपूर्ण ब्रह्मांड ही शरीर है। हमें तो आप विराट पुरुष ही प्रतीत होते हो। इस बात के प्रमाण तो अनेक हैं परन्तु उनमें से एक ही हम आपकी लोकोत्तर दिव्य महिमा को प्रकट करने के लिये वर्णन करते हैं।

हे शिवजी! एक समय था जब भारतवर्ष में भगवती गंगाजी ने पदार्पण न किया था। जब ये यहां न थीं तब कहां थीं? तब विष्णुधाम में थीं। विष्णु-धाम या विष्णुपद अर्थात् आकाश को इस ओर से उस ओर तक व्याप्त करने वाली मंदाकिनी नामवाली आकाश गंगा में संख्यातिसंख तारासमूह इस तरह डूबे हुए पड़े हैं मानों वे उसके प्रवाह के कमल या फेन हों। जितने तारे आकाश भरे में होंगे उससे दुगने केवल मात्र आकाश गंगा में होंगे। कहने का तात्पर्य यह कि आकाश गंगा आकाश की सबसे घनी वस्ती है। यह आकाश में इस ओर से उस ओर तक जाने वाला स्वर्गीय पुल अपने उस एक अंश भाग से कि जो हिमालय के ऊपर है, कभी जलधारा रूप परन्तु अब स्यात् हिम रूप होकर गिरता है, या यों कहना उचित होगा कि हिमालय पर्वत के एक दुर्गम भाग में जो हिम गिरती है वह आकाशगंगा के अलौकिक प्रभाव से इस भांति प्रभा-वित (Electrified) होती है कि उस हिम या उस हिम जल को यदि जल न कह कर साक्षात् भगवतचरणोदक कहा जाय तो कदापि अत्युक्ति न होगी। भारत-वर्ष कभी इस भगवतचरणोदक से वंचित था और यह अपूर्व जल राशि पूर्व समय में हिमालय ही के किसी घोर गर्त में लुप्त होकर पाताल पहुँच कर भोग-वती नाम से वहती थी। यह अद्भुत कर्म महाराज भगीरथ का था कि जिन्होंने अपने मानुषातीत परिश्रम और तप द्वारा कृत्रिममार्ग निकाल उस जलराशि को इधर आने के लिये विवश किया। इस भांति ये गंगाजी तीन पथों से वहती

हुई संपूर्ण त्रिलोक को व्याप रही हैं। ऐसी जो अपूर्व सामर्थ्य वाली गंगाजी हैं, हे शिवजी आपकी जटाओं में उन्हें भी ढूढ़े मार्ग नहीं मिलता । और हे शिवजी भगीरथ पर अनुग्रह कर जब आपने गंगा मुक्त करने का विचार किया था तब वे आपकी उस जटामें से केवल एक बूंद मात्र ही होकर निकलीं थीं। उसही एक बूंदने बादको ऐसा विराट रूप धारण किया कि अगस्त्य ऋषि द्वारा सोखे हुए समुद्र भी फिर से लहलहा उठे। राई को पर्वत और पर्वत को राई करने वाले आपके इस अपूर्व ऐश्वर्य को कौन जन ध्यान में ला सकता है।

वियद्व्यापी :—वियत् आकाशं व्याप्नोति आच्छादयति इति वियद्व्यापिन् सः वियद्व्यापी अर्थात् आकाश को एक ओर से दूसरी ओर तक छाये हुए।

तारागणगुणितफेनोद्गमरुचि :—ताराणां गणाः समूहाः तारागणाः तैः गुणिता विवर्धिता फेनोद्गमरुचिः फेनोद्भूतच्छटा यस्य सः तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः। अर्थात् जिसके जलकी दुग्धधवला छटा उसमें पड़े हुए असंख तारा समूहों द्वारा अत्यन्त बढ़ा दी गई है।

पृषतलघु :—पृषतवत् लघु अर्थात् जलसीकरवत्।

जलधिवलयं :—जलधिः वलयं यस्य तत् अर्थात् समुद्र जिसको चारों ओर से करधनी या कंगनावत् घेरे है, या जो समुद्रों की करधनी पहिने है।

धृतमहिम :—धृतः महिमा येन तत् धृतमहिम । अर्थात् महिमा धारण किए हुए।

... ...

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥१८॥

अन्वय :-क्षोणी रथः, शतधृतिः यन्ता, अगेन्द्रः धनुः, अथो चन्द्राकौं रथाङ्गे, रथचरणपाणिः शरः इति अयम् त्रिपुरतृणम् दिधक्षोः ते आडम्बरविधिः कः। खलु प्रभुधियः विधेयैः (सह) क्रीडन्त्यः परतंत्राः न (भवन्ति)

संस्कृतार्थः :-पृथिवी स्यंदनो ब्रह्मासारथिर्मेरुः कोदंडं चन्द्रसूर्यौ द्वे रथचक्रे विष्णुर्बाण इतीदं तृणवत्तुच्छातितुच्छं त्रिपुरनामानं दैत्यं दग्धुमिच्छोस्ते महदायोजनं नाम केवलं कौतुकमेव। अथवा सेवकैस्स्वाधीनैः पदार्थैर्वात्मविनोदं कुर्वन्त्यः प्रभूणां बुद्धयो न पराधीनतामनुभवन्ति।

त्रिपुरदैत्यं जिघांसुना त्वया यद्यपि नाम ब्रह्मा विष्णुश्चंद्रसूर्यौ पृथिवी मेरुरित्याद्यनेके सहाया एकत्रीकृताः परन्तु स सर्वःसमारंभः परमकौतुकिनस्ते आडंबरायैव न त्वपरिहार्यसाधनानीति तव मन्ये। अथवा स्वेच्छया जनितत्रैलोक्यस्य ते आत्मवश्यैः पदार्थैस्सह एवंविध आत्मविनोदस्तवाद्वैततां न लघयति तनूकरोति वा।

भाषार्थ :—त्रिपुर नामी दैत्य को फूंकने की इच्छा रखने वाले आपने पृथिवी को रथ, ब्रह्मा को सारथी, मेरु पर्वत को धनुष, चन्द्रसूर्य को रथ के पहिये और विष्णु भगवान को बाण बनाकर, यह क्या तमाशा सा कर डाला। अथवा निश्चय करके अपनी बनाई चीज़ों के साथ अपना आत्मविनोद करते हुए प्रभुजनों की बुद्धियों में कदापि परतंत्रता की संभावना नहीं की जा सकती।

भाषार्थ :—हे शिवजी! कभी कभी आपके अनुपम चरित्रों को पढ़ तबियत घबड़ा सी उठती है। आप अद्वैत हो, इच्छा मात्र से जगत रचते और नाश करते हो। परन्तु उस तुच्छ त्रिपुरासुररूपी तृण को फूंकने के लिए आपने उस प्रलयाग्नि का समारंभ क्यों किया था? ऐसा तो हम मूर्ख जन भी नहीं करते कि तलवार से नख काटते हों। फिर आपने उस साधारण कर्म के लिये ऐसा असाधारण आयोजन क्यों किया। पृथिवी रूपी रथ पर बैठे, चन्द्र सूर्य के पहिये घड़घड़ाते, ब्रह्मा से टिकटिक करवाते, हांथ में मेरु पर्वत लिये और उस पर विष्णु भगवान को बाणवत् लंबा लिटाये—ये आपका अपूर्व स्वरूप कहिये चाहे स्वांगरचना कहिये, किसलिये। त्रिपुर दैत्य! अरे, वह तो आपही का बनाया होगा। इच्छा ही से बना था, इच्छा मात्र ही से नष्ट भी हो सकता था। हे शिवजी! क्या आप भी उससे कुछ डर सा गये थे जो आपने अपने सबही सहायकों की

परेड एकदम बोलदी थी। अच्छा! प्रत्यक्ष में हम लोगों की दृष्टि से तो आपका ऐसा करना निश्चय कुछ पराधीनता दिखाता है कारण कि हम लोग यदि हांथ भी हिलाते हैं तो पराधीनता वश या कम से कम मन में तो यही सोंचा करते हैं कि हे शिवजी यदि आप पूर्ण कृपा करो तो कौन नालायक अपने हाँथ से उठा कर कौर तक अपने मुंह में ले जाय। परन्तु न्याय के लिए हमें आपके भाव के प्रति भी ध्यान देना होगा। अच्छा, तो राजा महाराजा जब अपने राज्य में शूकर सिंह का शिकार खेलने निकलते हैं और अपनी बड़ी सेना या अपने बड़े बड़े सूर सामंतो को साथ ले जाते हैं तो क्या उस अवसर पर यह अनुमान किया जाता है कि राजा साहब किसी सुवर या शेर से डर कर कल रात भर सोये नहीं थे या यह कि महाराजा साहब यदि स्वयं न जाते तो वह सूकर या सिंह मारा ही न जा सकता था। यह कुछ भी नहीं। सब काम तो नौकर कर सकते हैं फिर राजा साहब आखिर करें क्या। उठें तो शान के खिलाफ, चलें तो शान के खिलाफ, तो फिर शान ही रहे शरीर कहाँ रह सकता है। इसही भांत हे शिवजी यदि आप कभी कभी इस भवारण्य में त्रिपुरादि शूकरों का शिकार खेलने न निकलते और जहां जगत में नित्य सृष्टि प्रलय आपकी इच्छा से हुवा करता है तहां यह एक जीव विशेष भी अपनी स्वाभाविक मृत्यु या अकाल मृत्यु ही से मरता तो फिर चाहे आपकी अद्वैता की शान में भले ही बट्टा न लगता और वह सोलहों आने टंच ही रहती परन्तु हम पामर जन तो यही जानते कि आप हैं ही नहीं। सब आपही आप हुवा करता है। हम ही या हमारे से अन्य पामर जन ही इस जगत के कर्ता धरता हैं। अच्छा यह भी सही, फिर आपने सहायक क्यों बटोरे। अकेले ही शिकार खेलने क्यों न चले गये। आपकी दृष्टि से इसमें आपके सेवकों का मानभंग होता या उनमें हतोत्साहता आती या यह भी न सही तो आखिर उन विचारों को आपके पुराने अभ्यस्त हथकंडों को देखने का कब सौभाग्य प्राप्त होता कि जिससे वे अपनी रणकुशलता में उन्नति कर सकते। इसही भांति अनेकों कारण दिए जा सकते हैं कि कभी कभी आप ऐसे सगुण कार्य क्यों कर उठते हो। 'उमा राम गुण गूढ़ पंडित मुनि पावहिं विरति। मोहहिं मोह विमूढ़ जे हरि विमुख न धर्म रति' और भी 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः' इत्यादि।

जब साधन स्वतंत्र होते हैं तब ही साधक की बुद्धि में परतंत्रता या परवशता का भाव उदय होता है। स्ववश साधनों के साथ खेलते हुए ही कर्मों का नाम तो लीला है।

क्षोणी—पृथिवी, यन्ता—सारथिः, शतधृतिः—ब्रह्मा, अगेन्द्रः—मेरुः, अर्कः—सूर्यं। रथचरणपाणिः—रथचरणं चक्रं पाणौ यस्य सः रथचरणपाणिः चक्रपाणिः विष्णुः वा अर्थात् चक्र धारण करने वाले विष्णु भगवान। दिधक्षोः—दग्धुम् इच्छोः, फूंकने की इच्छा रखने वाले।

... ...

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥१६॥

अन्वयः—(हे) त्रिपुरहर! हरिः ते पदयोः साहस्रम् कमलबलिम् आधाय तस्मिन् एकोने (सति) यत् निजम् नेत्रकमलम् उदहरत्। (अतः) असौ भक्त्युद्रेकः चक्रवपुषा परिणतिम् गतः त्रयाणां जगताम् रक्षायै जागर्ति।

संस्कृतार्थ :—हे त्रिपुरमथन! भगवान्विष्णुस्तव पादपद्मयोस्सहस्रसंख्या-परिमाणं कमलोपहारं समर्प्य तत्संख्यायां कुतश्चिदेकस्मिन् कमलेऽल्पीभूते तत्संपूरणाय यन्निजनयनं कमलम्मन्यमानस्तदुत्पाटितवानतस्तस्य भगवतोऽसौ सेवाश्रद्धायाः परमोत्कर्षस्त्वत्प्रसादाच्चक्रंसुदर्शनं भूत्वाधुना त्रैलोक्यस्य धारणे पालने पोषणे च जागरूकस्सुसमाहितो वर्तते। त्वद्भक्तिप्रसादो हि भगवद्विष्णोर्जग-त्पालने मुख्यो हेतुरित्यर्थः।

भाषार्थ :—हे त्रिपुरमथन! विष्णु भगवान ने आपके चरणकमलों में एक सहस्र कमल समर्पित कर उनमें जब एक कम पाया तब अपने नेत्रही को कमल मान उसे आप पर चढ़ा दिया। उनकी भक्ति की यह परमसीमा ही चक्रसुदर्शन रूप हो तीनों लोकों की रक्षा में जाग रही है।

भावार्थ :—हे शिवजी! इस संपूर्ण जगत का पालन पोषण तो भगवान विष्णु करते हैं। जब राक्षसों और दैत्यों का उत्पात जगतनाश करने लगता है तब भगवान विष्णु ही अवतार धारण कर उसे शांत करते हैं। आप तो कभी कुछ

करते धरते से प्रतीत नहीं होते फिर आपको कोई कैसे माने। न माने-इसकी कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं है जब कि भगवान विष्णु स्वयम् ही आपको इतना मानते हैं कि आपकी पूजा में विघ्न होते देख अपने शरीर की सबसे प्यारी चीज आंख ही वेखटके आप पर चढ़ा देते हैं। ऐसे अनन्य भक्त को पा यदि आप फिर भी इस जगतपालन की खटखट अपने सिर से उतार न फेंकते तो क्या यह एक प्रकार का सामर्थ्य भोगरूपी राग न कहा जाता। जैसे करद नृपगण सम्राट ही के सामर्थ्य के सहारे अपनी प्रजा का प्रत्यक्षरूप से पालनपोषण करते हैं और प्रजा का प्रत्यक्षरूप से अपने निकटवर्ती राजा ही को सर्वस्व मानना सम्राट के वैभव में किसी प्रकार की हानि न कर प्रत्युत उसको बढ़ाता ही है इसही भांत भगवान विष्णु की शक्ति आपही की अनुग्रहरूप होने के कारण आपके अखंड ऐश्वर्य को फलतः बढ़ाती ही है।

साहस्र—सहस्रस्य इदम् साहस्रम्—हजारा। भक्त्युद्रेकः—भक्तेः उद्रेकः परमोत्कर्षः अर्थात् भक्ति की चरमावस्था। परिणतिम्—अवस्थान्तरतां—दूसरा रूप होकर। चक्रवपुषा—चक्रशरीरेण—सुदर्शनचक्ररूप होकर।

... ...

श्लोकसङ्गति :—पूर्वश्लोक में ऐसा दिखाया गया है कि तीनों लोकों की रक्षा में सदा जागने वाला विष्णु भगवान का सामर्थ्य भी शिवजी की अनुग्रह ही का फल है। तब भी एक प्रश्न यह रह जाता है कि जगतव्यवहार में विष्णु भगवान आदि से अंत तक पर्याप्त हैं या इन त्रिमूर्तियों में कोई श्रमविभाग या ऐश्वर्य तारतम्य है। दूसरे शब्दों में प्रश्न यह है कि ब्रह्मरूप शिव भगवान परमार्थ में निष्क्रिय होते हुवे व्यवहार में भी तद्वत ही हैं या व्यवहारिक जगतकार्य का कुछ भार उनके सिर भी है। और है तो क्या ? लोक में राज्यव्यवस्था के मुख्यतः दो अंग हैं अर्थात् (१) कार्यात्मक (Administrative or Executive) और (२) विवेचनात्मक (Deliberative)। इनमें राजा अपनी राजपरिषद सहित मुख्यतः विवेचनात्मककार्य करता है और उसके द्वारा बनाए हुए नियमों पर चल कर छोटे बड़े अन्य राजकर्मचारी गण राजा की आज्ञाओं तथा उद्देश्यों को कार्य में परिणित किया करते हैं।

भूतकालका और उसमें उत्पन्न होने वाली स्थितियों का पूर्णतया नाश हो चुका है। वर्तमान भूतकाल का निचोड़ है, परिणाम है, फल है। परन्तु यह

वर्तमान भी प्रतिक्षण भूत में विलीन हो रहा है, नष्ट हो रहा है, लुप्त हो रहाहै। यदि एक ओर वर्तमान भूत की गोद में सोता चला जा रहा है तो दूसरी ओर भविष्य के गर्भ से निकलता भी चला आ रहा है। यदि ऐसा न हो तो वर्तमान की धारा बहुत शीघ्र विच्छिन्न हो जाय। भूतकाल को स्थिति इस समय कोई व्यवहारिक मूल्य नहीं रखतो अतएव उसके संबंध में किसी व्यवस्थापक की नियुक्ति को कोई आवश्यकता नहीं। व्यवहारिक सामर्थ्य है वर्तमानस्थिति और भविष्य के प्रश्न में। यही दो जीवन के मुख्य विभाग हैं और इनहीं की व्यवस्था के लिये दो प्रकार के व्यवस्थापक हर प्रकार की व्यवस्थाओं में परमावश्यक हैं। उनमें एक का कर्म ज्ञानात्मक और दूसरे का क्रियात्मक होता है। शरीर में भी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक इन्द्रियायें हैं। समाज में भी दो स्वभाव के व्यवस्थापक हैं और तद्वत ईश्वरीय व्यवस्था में भी दो महान मुद्ढ हैं।

पूर्व में निर्धारित और निर्णीत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो सामग्री संग्रह है उस सामग्री द्वारा ठीक २ वैसा ही साकार उद्देश्य कार्यरूप में खड़ा कर देना, नक्शे के अनुकूल ताज़महल बना देना वर्तमान का प्रश्न है। सामग्री अविच्छिन्न धारा से बराबर पहुँचती जाय; बिना उलझे हुवे सूत भविष्य के गर्भ से निकल कर बराबर कपड़े का थान बनाता जाय, आज की भांत कल और कल की भांत परसों और इस ही भांत अनंतकाल तक यह जगत व्यवहार अविच्छिन्न धारा से बहता रहे यह भविष्य का प्रश्न है। भविष्य व्यवस्था का यह प्रश्न उतना ही सूक्ष्म हैजितना कि वर्तमान का प्रश्न स्थूल है। इस न्यायानुसार चलते हुवे भविष्य शिवजी और वर्तमान विष्णु भगवान के हाथ में है।

शिवजी के भरोसे ही विष्णु भगवान इस भवकूप में आवश्यकता पड़ने पर निधड़क गोते लगा जाते हैं कि जिसे हम अवतार कहते हैं। विष्णु भगवान के अवतार रूपी बंधन में फँसने पर उनके अवतारोद्देश्य की पूर्ति की सामग्री अनुकूल और उचित समय से पहुँचाना और बाद को उन्हें भी भवकूप से बाहर खींचना शिवजी का कर्त्तव्य है। समष्टि के प्रति सब से कठिन काम जो कर्माध्यक्षता का है वह भी शिवजी के हाथ है—अर्थात् सब जीवों को उनके कर्मानुकूल फल देना। यह महा कठिन कर्म है—इस ही को सत्यता पर जगत चल रहा है। 'भाविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी' कारण कि भावी के बनाने वाले भी वही हैं। उपरोक्त विधि के श्रम विभाग की ध्वनि इस श्लोक में है। प्रत्यक्षतया इस

श्लोक में मीमांसकों के इस सिद्धांत का खंडन किया गया है कि कर्मफल देने का सामर्थ्य कर्म में ही स्वतः प्राप्त है और यह कि ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। इस श्लोक में वेदांत का यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि प्रतिक्षण विध्वंसी जड़ कर्म में कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि वह भिन्नदेशीय और कालान्तरीय फल उत्पन्न कर सके, या फल को उसके कर्ता से भुगवा सके, सिवा इसके कि कोई चेतन सत्ता जैसे ईश्वर, इस महान कार्य भार को अपने सिर ले। इस ही सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया गया है कि शिवजी ही इस जगत में कर्माध्यक्ष हैं।

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा *कृतपरिकरः कर्मसु जनः ॥२०॥

अन्वय :—क्रतौ सुप्ते क्रतुमतां फलयोगे त्वम् जाग्रत् असि। प्रध्वस्तम् कर्म पुरुषाराधनम् ऋते क्व फलति। अतः त्वाम् क्रतुषु फलदानप्रतिभुवम् संप्रेक्ष्य श्रुतौ श्रद्धाम् बद्ध्वा जनः कर्मसु कृतपरिकरः (भवति)।

संस्कृतार्थ :—श्रौतस्मार्तकर्मणां प्रतिक्षणविध्वंसिस्वभावानां देशान्तरे कालान्तरे पुनर्जन्मसु वा तत्तत्कर्मकर्तृषु तत्तत्कर्मानुकूलं फलनिष्पत्तावनिमेषेण-चक्षुषा सर्वदा जागरूकस्त्वं सुसमाहितो वर्तसे। नो चेदनुष्ठानमात्रेणाचरणेन वा विनश्यत्सु कर्मसु कुतः फलानुबंधस्य संभवो यदि नाम न भवेत्तैराचरणैः प्रसादितः कश्चन चेतनपुरुषविशेषः कर्मफलदाने धृतदृढमतिश्च। कर्मफलसंपादने त्वामेवं प्रतिभूस्वरूपं निश्चित्यैव सर्ववर्गीयाः प्रजा वेदविधौ श्रुतिचोदनायाञ्चानन्यविश्वासं निधाय यज्ञदानस्वाध्यायादिषु श्रुतिस्मृतिविहितेष्वाचरणेषु सर्वतः कृतसमारंभा दृश्यन्ते।

जात्यायुर्भोगविपाकानां जीवदशावैचित्र्यैककारणानां कर्मणां भोगादेव क्षय इति खलु समानोऽन्तः लोकवेदविदामपि च सर्वशास्त्रविशारदानां जनानाम्। उत्पन्नविनष्टानां कर्मणां देशकालान्तरेऽपि कर्तृजनभोग्यफलनिष्पत्तौ किंप्रभावा किन्निमित्ताशक्ति-

* दृढपरिकरः इत्यपि पाठान्तरं दृश्यते।

रित्यत्र विवदन्ते नाम वेदान्तिनो मीमांसकाश्च, अपि वेदैकप्रमाणाश्रयाः। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामिति' सूत्रेण वेदस्य क्रियापरत्वमेव मन्यमाना उपनिषद्वाक्यानामर्थवादत्वं निश्चिन्वानास्स्वर्गभोगपरायणा नान्यदस्तीतिवादिनो जैमिनीया मीमांसकास्साध्येषु स्वर्गादिषु फलत्वयोगाय किमप्यपूर्वं नाम प्रध्वस्तकर्मप्रसूतं सुसूक्ष्मं जडतत्वं कलपन्ते। नैवं वेदान्तिनः। तेषां मतौ जडस्यापूर्वस्य नाम का शक्तिः कर्तृजनान्वेषणे तद्योग्यफलोत्पादने च। कर्माध्यक्षश्चेतन ईश्वरो हि जीवकर्मानुसारि विचित्रं भोगायतनं विरचयंस्तत्तज्जीवान्परत्रात्र भोक्तव्यैश्च फलोदयैस्संयोजयतीति निर्णीतमुत्तरमीमांसायाम्। पूर्वमीमांसामता ईश्वरोऽनपेक्ष्योऽनुपपन्नश्च। इत्येवं विवदमानयोरनयोर्वेदान्तमेव दृढीकुर्वन्गर्जति तत्रभवान्पुष्पदंतः 'क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते' इति! को नाम चेतनस्सन्जडस्यापूर्वस्य विवेकशक्तिं प्रमाणीकृत्य यागदानादिक्रियायां बद्धपरिकरस्स्याद्यदीश्वरो जीवकर्मानुरूपफलप्रदाने प्रतिभूवरसत्यसंकल्पो न भवेत्। यथा कश्चनोत्तमर्णो नृपतिबलं समाश्रित्य यत्रतत्रस्थितेभ्यो दरिद्रेभ्योऽपि येभ्यः केभ्योऽधमर्णेभ्य ऋणं वितरत्येवमीश्वरो मे प्रतिफलदातेति निश्चित्य जना निभृतं विजनैकान्तेऽपि सत्कर्म कुर्वाणास्सत्फलायात्मनि विश्वसन्ति पापं विकुर्वाणा विजुगुप्सन्ते बिभ्यति च। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीम् पितरोऽन्वायत्ताः'। 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः'। 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इत्यादयश्श्रुतयोऽत्र प्रमाणम्।

पूर्वमीमांसासम्मतमपूर्वं भगवत्पादाः शंकरमधुसूदनादय एवं निराकुर्वन्ति:—

"फलमत उपपत्तेः" (ब्र० सू० ३.२.३८)—………। यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा, तत्रतावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति। कुतः? उपपत्तेः। स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं संपादयतीत्युपपद्यते। कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुपपत्तेः। स्यादेतत्—कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुध्यति;

प्राग्भोक्तृसंबंधात्फलत्वानुपपत्तेः । यत्कालं हि यत्सुखं दुःखं वात्मना भुज्यते तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम् । नह्यसंबद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः । अथोच्येत माभूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः । कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यत इति, तदपि नोपपद्यते । अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठ-लोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात् । ………… । 'श्रुतत्वाच्च' (३.२.३९) । न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि; श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे । तथा च श्रुतिर्भवति—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ.४.४.२४) इत्येवं जातीयका ।

धर्मं जैमिनिरत एव' ॥ (३.२.४०) जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते । अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च । श्रूयते तावदयमर्थः—'स्वर्गकामोयजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते । अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत, तत्रास्योपदेशानैयर्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यते इति परित्यक्तोऽयं पक्षः, नैष दोषः; श्रुतिप्रामाण्यात् । श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथायं कर्मफलसंबन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः । न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोत्यतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते । उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण । ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम् । अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसंगादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्मादेव फलमिति ।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्' (३.२.४१) बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । ……… । कुतः । हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन ………………………… स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ स तया श्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्' इति । सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति । विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते" ………………… शंकराचार्याः ब्रह्मसूत्रभाष्ये ।

"नहि लोके कुत्रापि विनष्टस्य कर्मणोऽ'पूर्वद्वारा फलजनकत्वं दृश्यते। तत्र लोकदृष्टप्रकारेणैव वैदिककर्मणामपि फलजनकत्वसंभवे न लोकविरुद्धापूर्वफलदातृत्वकल्पनावकाशः। अपूर्वं हि लोकसिद्धकारणान्तरनिरपेक्षं वा स्वर्गादिफलं जनयेत्तत्सापेक्षं वा। आद्ये तत्फलोपभोगयोग्यदेहेन्द्रियादिकमपि नापेक्षेत। न चैतदिष्टं, सर्वस्यापि सुखदुःखादेः शरीरसंयुक्तात्ममनोयोगादिदृष्टकारणजन्यत्वाभ्युपगमात्। द्वितीये तु लोकसिद्धदेहेन्द्रियाद्यपेक्षावदीश्वरापेक्षापि नियता, लोके तथादर्शनात्। तस्माच्छ्रुतिन्यायसिद्धेश्वरपदार्थधर्मिबाधकल्पनाद्वरमपूर्वपदार्थस्य नैरपेक्ष्यधर्ममात्रबाधकल्पनम्..................। अपूर्वं च तत्फलदातृत्वं च द्वयं भवद्भिः कल्प्यम्। अस्माभिस्तु केवलमीश्वरः कल्प्यः। तस्य फलदातृत्वादिकं तु चेतनत्वाद्राजादिवल्लोकसिद्धमेव। सर्वज्ञत्वेन च तत्तत्कर्मानुरूपफलदातृत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषप्रसंङ्गः।" इति मधुसूदनस्वामी।

[इन अवतरणों का भाषानुवाद यहाँ न दिया जाकर भावार्थ में दिया गया है]

भाषार्थ :—हे शिवजी ! दानयागादि क्रतुओं के सो जाने पर अर्थात् अनुष्ठानोपरान्त उपरत होजाने पर उन क्रतुओं के फल देने के अर्थ केवलमात्र आपहीं सदा जागते रहते हो। अन्यथा तो नष्ट हुआ कर्म यदि उसके द्वारा चेतनपुरुष आपकी आराधना न की गई हो तो वह स्वयम् किस भांत फल देने में समर्थ हो सकता है। इसलिये क्रतुओं का फलदान देने के लिये प्रतिभू (ज़ामिन) स्वरूप आपको निश्चित कर ही प्रजाजन श्रुतियों में विश्वास कर श्रुतिस्मृतिविहितकर्मों में सब ओर से लगती हैं।

भावार्थ :—हे शिवजी श्रुति और स्मृति में कहे हुये यागदानादि अनेक कर्मधर्म करते ही करते नष्ट होते दिखाई पड़ते हैं। किसी ने यज्ञ किया, पदार्थों को अग्नि में डालते ही वे भस्म हो गये, फिर यह बताना दुष्कर है कि उसने जौ तिल डाले थे या कोई अन्य पदार्थ। अच्छा अभी राख है उससे निर्णय किया जा सकता है। सो भी कितनी देर। दिन दो दिन बाद राख भी ढूढ़े नहीं

'अपूर्वम्—That unseen virtue which is a relation superinduced, not before possessed, unseen but efficacious to connect the consequence with its past and remote cause and to bring about at a distant period or in another world the relative effect–Colebrooke.

मिलती। अच्छा भाई कुछ लोग उस बात के गवाह हैं। थोड़े ही वर्षों में उस यज्ञ के गवाह कोई कहीं कोई कहीं होंगे, और बहुत से मर जायंगे। हे शिवजी ऐसा तत्क्षणनाश होने वाला यज्ञ हमें किस भांत जन्मजन्मान्तरों के बाद कल्प-कल्पान्तरों के बाद स्वर्ग दिलायेगा। जब यज्ञादि डंके की चोट किये जाने वाले स्थायी कर्मों की यह नश्वरता है तब दानस्वाध्यायादि उपांशु कर्मों की तो बात ही चलाना वृथा है। तो फिर कर्ममात्र करना ही वृथा है। क्योंकि विना उद्देश्य कर्म करना तो मूर्ख को भी नहीं भाता। इसही भांत तर्क या कुतर्क करते हुये हमारे अनेक भाई कहते हैं कि ये सब धर्म कर्म आचारादि ब्राह्मणों के रचे ढकोसले हैं, जिससे उनका पेट चले। मरने के बाद क्या कोई देख आया है कि किस कर्म का क्या फल होता है। अच्छा यों ही सही तो फिर आखिर करें क्या? ये लोग कहते हैं रोजगार करो, धन पैदा करो कममें लाओ ज्यादः में बेचो, सूद पर रुपया चलाओ, अमीर होकर चैन करो। देखो ये सब प्रत्यक्ष फल देने वाली बातें हैं। इन्हें छोड़ कुछ बिगड़े दिमाग के मूर्ख ही अप्रत्यक्षवाद धर्म कर्म में निरत होकर आजन्म कष्ट भोगते हैं। परन्तु हे शिवजी रोजगार और सूदखोरी द्वारा भी तबही सफलता संभव है जब कोई दृढ़ राजव्यवस्था हो, अन्यथा मूल ही न लौटेगा व्याज और लाभ की बात ही कौन कहे। परन्तु "जादू वो जो सर पर चढ़के बोले" न्यायानुसार इस लौकिक दृष्टान्त में भी कर्म की तत्क्षणनश्वरता वाला धर्म वैसा ही बना है। यह बात और है कि बहीखाते और हंथलिखे रुक्कों द्वारा थोड़े दिन अपने उस कर्म का प्रमाण हम बनाये रक्खें परन्तु कर्म स्वयम् तो हुआ कि नष्ट हुआ। दूसरे इन प्रमाणों के बंडलों को भी क्या शहद लगा कर चाटें यदि कोई राजा या राज्यव्यवस्था इस बात की जिम्मेदारी न लिये हो कि उन प्रमाणों द्वारा फल दिलाया जायगा। फिर ये प्रमाणों के बंडल तो केवल मात्र राजा या राजकर्मचारियों को अल्पज्ञता को दूर करने की सुविधा मात्र है अन्यथा यदि वे सर्वज्ञ होते तो केवल मात्र कर्म करना ही पर्याप्त होता।

इसही भांत हे शिवजी आपके सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान विधाता होते हुये कर्मों की तत्क्षणनश्वरता के कारण हमें भयभीत न होना चाहिये। आपका तृतीय नेत्र, ज्ञानचक्षु, सदा सर्वदा खुला रहता है। उसके द्वारा आप सदा जागा करते हो और इस विचित्र सृष्टि के विचित्र और अगणित जीवों द्वारा किये गये कर्मोंका फल दिया और दिलाया करते हो। इस कारण आप कर्मों के फल देने के लिये

सदा सर्वदा जागा करते हो, कि वेद आपकी आज्ञा है और वेदों में कर्मों की शिक्षा है। यदि आपकी आज्ञानुसार किये गये कर्मों का फल भी आप तदनुसार न दो तो मजदूरी न देने वाले मालिक की भांत अन्यायी ठहराये जाव। परन्तु उन्हीं कर्मों का फल आप देने को तय्यार हो जो आपकी आज्ञा अर्थात् श्रुति और स्मृति के अनुकूल है। जो इनके विपरीत हैं वे कर्म या तो व्यर्थ जाते हैं या यदि निषिद्ध हैं तो उनके लिये आप दंड भी देते हो। तात्पर्य यह कि कर्म स्वयम् विना आपकी सहायता कुछ सामर्थ्य नहीं रखता। अतएव हे शिवजी कर्म करने का उद्देश्य प्रतीत होता है आपकी आज्ञानुसार हांथ पैर हिलाना अर्थात् यावत् जीवन आपके आज्ञानुकूल रहना। इस भांत आपकी आज्ञानुकूल चलना ही आपकी आराधना है। अतएव कर्मका उद्देश्य आपकी आराधना है। यदि कर्म से आपकी आराधना हो गई, आप प्रसन्न हो गये तो चिरस्थायी आप द्वारा फल मिलेहीगा अचिरस्थायी कर्म से हमसे क्या। इससे हे शिवजी यह फल भी स्वतः ही निकलता है कि जो कर्म आपकी आराधना के हेतु नहीं है अर्थात् या तो आपकी आज्ञानुसार नहीं है या आपके द्वारा मना किये हुये हैं उनसे हमें कोई लाभ कदापि नहीं हो सकता चाहे प्रत्युत हानि भले ही हो। यदि कर्म द्वारा आपकी आराधना ही न हुई तो कर्म तो करते ही नष्ट हो गया, फल कहां से और किस प्रकार होगा।

जैसे महाजन लोग अच्छे योग्य सुदृढ़ व्यवस्था वाले न्यायकारी राजा की छाया में रहते हुये दीन हीन, बेघर दुवार मजदूरे तक को भी उधार दे दिया करते हैं इस आशा पर कि धन नहीं तो उससे वृद्धिपूर्वक काम ही लेकर रुपया वसूल कर लेंगे। और इस भांत न्यायकारी राजा के राज्य में अमीर गरीब सब का कार्य सुविधा पूर्वक चला करता है। उसही भांत हे शिवजी अनादि अनंत सत्तावाले आपको न्यायकारी जगदीश्वर मान कि जो कर्म फल देने दिलाने की जिम्मेदारी सरसे उठाये बैठा है, आपकी प्रजाजन निधड़क अंधेरे उजेले अमीर गरीब सबके साथ धर्माचरण करते हुये पूर्ण विश्वास रखते हैं कि उनका धर्माचरण कितना ही गुप्त और साक्ष्यरहित क्यों न हो नष्ट न होगा, फल देहीगा और विपरीत इसके पापाचरणी अत्यन्त गोपनीय विधि से पाप करके भी इस कारण शांति नहीं पाता कि उसको पूर्ण विश्वास है कि हे शिवजी आपका तृतीय नेत्र न कभी बंद होता है न उसमें कोई धूल डाल पाता है। इस भांत हे शिवजी आपही के अस्तित्व में आस्था कर आपकी प्रजा द्वारा श्रुतिस्मृतिविहित

कर्मों की अनवरत धारा बहाई जा रही है कि जिससे इस जगत का अनादि अनंत चक्र परिभ्रमित हो रहा है।

अब, हे शिवजी! कुछ ऐसे भी पण्डितमानी जन हैं कि जो गीता पर तो मुग्ध हैं परन्तु भगवान कृष्ण का अस्तित्व नहीं मानते। इसही भांत हे शिवजी आपके बनाये वेद पर भी कुछ लोग ऐसे लट्टू हो गये हैं कि वे आपके अस्तित्व की न आवश्यकता ही मानते हैं न संभावना। बात भी एक तरह ठीक है। कहा जाता है कि एक मुसरिया किसी ऋषि के सम्मुख बिल्ली से डरी, कृपाकर ऋषि ने उसे बिल्ली बना दिया, कुत्ते से डरी कुत्ता बना दिया, इसही भांत अन्त में शेर से डरने पर शेर बना दिया। मुसरिया ने देखा अब तो हमें जहां तक दीखता है कोई डरा सकता नहीं, केवल मात्र हमारी पूर्वावस्था की हीनता का ज्ञानी यह ऋषि ही है। अतएव यदि इसे भक्ष लूं तो 'परंस्वतंत्र न सिर पर कोऊ' हमही सबसे बड़े हो जांयगे। ऐसा सोच सिंह रूपी वह मुसरिया ऋषि महाराज को भक्षण करने चली। ऋषि ने कहा 'पुनर्मूषिका भव'। वह फिर मुसरिया होगई। इसही भांति आपकी सर्वभावेन परिपूर्ण इस सृष्टि को देख, उसमें सब भांत अभ्युदयदायी वेद-ज्ञान को पा, तिलिस्म देख, तिलिस्म तोड़ने की किताब पा, फिर उसके सबके बनाने वाले आपकी क्या आवश्यकता है। युवा पुत्र बाप को भार स्वरूप तो देखता ही है। और यदि अक्ल का तेज हुआ तो उसे मार या कैद कर राजसिंहासन हंथिया लेना ही तो ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसही तरह हे शिवजी आपही के बनाये वेद को प्रमाण मानते हुए ये मीमांसक नाम धारी पंडितमानी आपको अपने विचारानुसार तो भक्ष ही चुके हैं और आपके सिंहासन पर उन्होंने 'अपूर्व' नामक एक अपूर्व पत्थर की मूर्ति स्थापित की है और कहते हैं यही जगत का पर्याप्त कारण है। हे शिवजी इन मुसरिया सिंहों को आपके हिमालय पर पले सच्चे वेदान्तकेशरी शंकराचार्य मधुसूदनादि किस भांति खिला खिला मारते हैं उसका थोड़ा सा नमूना हे शिवजी आपसे अनुमति ले अपनी अल्पज्ञता की काई काटने हेतु आपको सुनाने की धृष्टता करता हूँ सो क्षमा कीजियेगा।

"फल होता है, इसलिये युक्तिसंगत है (ब्र. सू. ३-२-३८)-यह जो इष्ट (स्वर्ग लोक और देव योनि) अनिष्ट (नरक और तिर्यग्योनि) और व्यामिश्र (अर्थात् कुछ इष्ट कुछ अनिष्ट-मनुष्यलोक और मनुष्य योनि) लक्षण वाला तीन प्रकार से प्रसिद्ध कर्मफल जीवों को संसार में भोगना पड़ता है, यह कर्म द्वारा होता है या ईश्वर

द्वारा होता है यह बात यहां विचारना है । इसके बारे में कहा गया है कि यतः कर्म फलता है अतः यह बात ईश्वर ही द्वारा हो सकती है या सध सकती है। किस तरह । क्योंकि यही तो बुद्धियुक्त और न्यायसंगत है। (अर्थात् यतः संसार में कर्म का फल होता हुआ दिखाई पड़ता है इससे युक्तिपूर्वक यही परिणाम निकाला जा सकता है कि ईश्वर है कि जिसके द्वारा कर्म का फल प्राप्त होता है—अर्थात् कर्म फलकी घटना का सीधा तथा युक्तियुक्त परिणाम ईश्वर का अस्तित्व है) । वह ही सबका मालिक विचित्र सृष्टि स्थिति और संहार करता हुआ, देशकाल की विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान रखने के कारण कर्मों का कर्मानुरूप फल संपादन करता है, यही मुनासिब मालूम पड़ता है । कर्मों का कि जो प्रतिक्षण विनाश हो रहे हैं, कालान्तर में स्वयं ही फल होगा ऐसा सोचना युक्तिसंगत नहीं, कारण कि अभाव से उत्पत्ति होना संभव नहीं (अर्थात् अभावता को प्राप्त हुये प्रध्वंसित कर्म फिर फलकी उत्पत्ति काहे से करेंगे) । यदि कोई कहे कि ऐसा भी इस तरह हो सकता है कि कर्म नाश होते समय उसही क्षण अपने अनुरूप फल पैदा कर तब नाश होते हैं (अर्थात् बीज गिरा कर जैसे वृक्ष नष्ट हो जाय) और वही फल कालान्तर में कर्ता द्वारा भोगा जायगा। तो यह भी युक्ति बनी नहीं, कारण कि भोक्तासे संबंधित होने के पूर्वही, फल फला ऐसी बात युक्ति संगत नहीं । जिस समय जो सुखदुःख किसी से भोगा जाता है उसही को लोक में फलफलना ऐसा कहते हैं । संसार के लोग ऐसा कभी विश्वास पूर्वक नहीं मानते कि किसी आत्मा से असंबंधित होने पर भी सुखदुःख रूपी फल प्राप्त हुआ (अर्थात् सुखदुःख तो उसही का नाम है कि जिसे कोई जीव विशेष सुख दुःख मान कर भोगे और समझे कि उसे यह फल मिला है, जब भोक्ता उपस्थित ही नहीं तब फल फला किसे, ऐसा आक्षेप उपरोक्त युक्ति को नाश करता है) । अच्छा, यदि ऐसा कहा जाय कि मान भी लिया कि कर्मोपरान्त फल नहीं होता (अर्थात् कर्म अपने फल सहित नष्ट होता है) । तो, कर्म का कार्यरूप जो 'अपूर्व' है उससे फल उत्पन्न होगा । यह बात भी ठीक नहीं बन पड़ती । काष्ठलोष्ट सम अचेतन अपूर्व विना किसी चेतन के प्रवृत्ति करेगा ऐसा कहना बहुत ही नामुनासिब है । और फिर अपूर्व की सत्ता का कोई प्रमाण भी तो नहीं है ।

"श्रुति भी ऐसा ही कहती है" (ब्र. सू. ३-२-३९) (अर्थात् श्रुति भी यही कहती है कि कर्मफल का दाता ईश्वर है न कि स्वयं कर्म । 'फलमतउपपत्तेः' यह सूत्र अनुमान प्रमाण का बोधक है, 'श्रुतत्वाच्च' यह शब्दप्रमाण का बोधक है

अर्थात् बुद्धिद्वारा और आप्तप्रमाण द्वारा कर्म फलदाता ईश्वर ही ठहरता है)। न केवल उपपत्ति या युक्ति के कारण ईश्वर को फल का हेतु कल्पित करते हैं वरन् श्रुति के अनुसार भी ईश्वर ही फल का हेतु है ऐसा मानना पड़ता है। ऐसा श्रुति कहती है 'यह वह महान् अज आत्मा ही है जो सब ओर से अन्न देती है धन देती है' (अर्थात् ईश्वर ही प्रतिफलरूप धनधान्य देता है)। इसही तात्पर्य की और भी बहुत सी श्रुतियां हैं।

"जैमिनि धर्म को इसलिये" (ब्र. सू. ३-२-४०)। आचार्य जैमिनि धर्म ही को फलदाता मानते हैं। और इसके लिये श्रुति और उपपत्ति (अनुमान प्रमाण—Rational arguments) देते हैं। इस प्रकार का अर्थ, 'स्वर्ग की इच्छा रखने वाला यज्ञ करे' आदि वाक्यों में पाया जाता है। इस वाक्य में विधिश्रुति के विषयभाव की प्राप्ति के कारण यह भाव है कि याग स्वर्ग का उत्पादक है (अर्थात् उपरोक्त वाक्य अधिकारविधि की श्रुति है और उसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ से स्वर्गरूपी फल उत्पन्न होता है)। अन्यथा यज्ञ विना कर्ता के माना जायगा और वहां उसका उपदेश व्यर्थ हो जायगा (अर्थात् यदि यह वाक्य अधिकारविधि न हो तो ऐसा अर्थ होगा कि यज्ञ स्वतः हुआ भी हो सकता है; अर्थात् विना किसी के किये हुए भी हो सकता है, और इस प्रकार यज्ञ करने के उपदेश की कोई सार्थकता ही न होगी। यानी उपदेश तो किसी चेतनविशेष ही को दिया जा सकता है और यदि अचानक घटित यज्ञ क्रिया भी स्वर्ग देती हो तो फिर उसके उपदेश की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती)। अच्छा मान लिया कि प्रतिक्षण नाश होने वाले कर्मों का फल संभव नहीं इसलिये यह पक्ष त्याग दिया (अर्थात् उपपत्ति त्याग दी), परन्तु इससे कोई दोष या हानि (सिद्धान्त में) नहीं हुई। क्योंकि श्रुति भी तो प्रमाण है। यदि श्रुतिवाक्य प्रमाण है तो श्रुति में जिस भांति भी कर्मफलसंबंध संभव होगा उस तरह कल्पना करेंगे (—अर्थात् बुद्धियुक्ति द्वारा यह बात यदि सिद्ध नहीं होती कि तत्क्षण नश्वर कर्म कुछ फल उत्पन्न कर सकते हैं तो हम उपपत्ति पक्ष को त्यागे देते हैं परन्तु अभी सिद्धान्त गिरा नहीं कारण कि श्रुति वाक्य प्रमाण हैं और श्रुति कहती है कि यज्ञ का फल स्वर्ग है। तब श्रुति तो झूठी हो नहीं सकती। अतएव उसको सार्थक करने के लिये हमें कोई कारण कल्पित कर लेना चाहिये। क्योंकि जो मनुष्यबुद्धिगम्य बातें नहीं है उन्हीं का उपदेश करना तो श्रुति का उद्देश्य है)। विना किसी अपूर्वता के पैदा किये, कर्म, नाश हुये काल के उपरान्त, फल देने में समर्थ हो नहीं सकता अतएव कर्म ही की कोई सूक्ष्म

बाद वाली अवस्था या फल ही की कोई पूर्व वाली अवस्था, अपूर्व नामधारी है, ऐसी तर्कना की जाती है। और ऊपर कहे हुये प्रकरण से यह अर्थ मेल भी खाता है। ईश्वर फल देता है यह बात बुद्धि के विपरीत है। एकरस या अविचित्र-कारण, विचित्र कार्य उत्पन्न कर सके ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं, और फिर उसपर क्रूरता और विषम भाव वाला होने के आक्षेप लागू होंगे और कर्म करना ही वृथा सिद्ध होगा। इसलिये धर्म ही फलदाता है।

'पहिला (पक्ष) बादरायण का है, हेतुमत् होने के कारण' (ब्र. सू. ३-२-४१)। बादरायणाचार्य पहिले कहे हुये ईश्वर ही को फलका हेतु मानते हैं। किस तरह। हेतुमत् होने के कारण (अर्थात् श्रुति का पक्ष तो दोनों में समान है, इस और हेतु भी है अतएव बादरायण ईश्वर ही को फलदाता मानते हैं)। धर्म और अधर्म का भी कर्ता होने से ईश्वर ही हेतु कहा जाता है, और फलदाता होने से भी ("यही साधु कर्म कराता है उससे जिसे उच्च लोक ले जाना चाहता है, असाधु कर्म कराता है उससे जिसे नीचे ले जाना चाहता है" –यह श्रुति संस्कृत भाष्य में 'एष ह्येव' करके दी गई है अतएव संस्कृत अवतरण में दोहराई नहीं गई और जगह छोड़ दी गई यहां उसका अर्थ दे दिया जाता है)। भगवद्-गीता में भी यह अर्थ दोहराया गया है "श्रद्धापूर्वक जो जो भक्त जिस जिस शरीर की पूजा करना चाहता है, उस उस भक्त की श्रद्धा को अचल मैं ही करता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त वह उसकी आराधना करना चाहता है, और मेरे द्वारा संपादित अपनी कामनाएं फलीभूत पाता है"। इस तरह सब वेदान्त–प्रमाणों में सृष्टियां ईश्वर हेतु वाली ही मानी गई हैं। ईश्वर का यही फलदाता पना या फल का हेतु होना है कि वह उनके (जीवों के) कर्मानुसार ही प्रजा रचता है। रहा यह आक्षेप कि ईश्वर विचित्र सृष्टि क्यों रचता है (और भी विषमता तथा क्रूरता वाले आक्षेप कि जो उसके अंतर्गत ही हैं) सो उनके प्रयत्न अर्थात् कर्मों की अपेक्षा करके रचने वाले ईश्वर पर वे दोष लागू नहीं होते। शंकरा-चार्य—ब्रह्मसूत्र भाष्य में।

"लोक में कहीं भी विनष्ट कर्म का अपूर्व द्वारा फल दिया जाना देखने में नहीं आता। तब लोकदृष्टमतानुकूल ही यदि वैदिक कर्म भी फल जनते हों तो लोकविरुद्ध अपूर्व को फलदाता मानने की कल्पना के लिये कोई अवकाश नहीं है। निश्चय ही अपूर्व लोकसिद्ध अन्य कारणों की अपेक्षा न करके या उनकी अपेक्षा करके स्वर्गादि फल रचता होगा। पहिली दशा में—(अर्थात् यदि लोक-

सिद्ध अन्य कारणों की अपेक्षा विना ही अपूर्व स्वर्गादि फल दे सकता हो तो) उस फलोपभोगयोग्य देह और इन्द्रियां आदिकों की भी उसे अपेक्षा न होगी। और यदि कहीं ऐसा हो तो यह तो इष्टापत्ति हुई, क्योंकि सर्व सुखदुःखों के भोग शरीरयुक्त आत्ममनोयोगादि दृष्टकारणों द्वारा ही पैदा होते हुये पाए जाते हैं। दूसरी दशा में, (अर्थात् यदि लोकसिद्ध अन्य कारणों की अपेक्षा है तो) लोकसिद्ध देहेन्द्रियादिकों की अपेक्षा की भांति ईश्वर की अपेक्षा भी नियत ही है, क्योंकि दुनियां में ऐसा ही देखा जाता है। इसलिये श्रुति और न्याय से सिद्ध ईश्वर पदार्थरूपी धर्मी की कल्पना बाधित करने से तो अधिक मुनासिब यही प्रतीत होता है कि अपूर्व पदार्थरूपी निरपेक्ष धर्म मात्र की कल्पना बाधित की जाय। आप लोग अपूर्व और उसकी फल देने की शक्ति दो बातें कल्पित करते हैं। हम लोगों को केवल ईश्वर ही की कल्पना करना पड़ता है। उसकी अर्थात् ईश्वर की फलदातृत्वशक्ति तो चेतन होने के कारण, राजा इत्यादि की भांति, लोकसिद्ध ही है। सर्वज्ञ होने के कारण और उन उन कर्मानुकूल फल देने के कारण विषमता और क्रूरता आदि दोषों का कोई प्रसंग है ही नहीं" मधुसूदनस्वामी ॥

[इन संस्कृत अवतरणों का यदि केवल भाषार्थ न देकर भावार्थ भी खोला जाय तो अतिविस्तार होगा कारण कि अर्थ अति गंभीर है। अतएव विज्ञ पाठक इनको यदि कठिन पावें तो पुनः पुनः पढ़ें और मितार्थता और मितवाक्यता को विस्तार दे देकर उनके भावार्थ खोलें जिस तरह कि उदाहरण के लिये बीच बीच में सहायता दी गई है]

... ...

श्लोकसंगति :—पूर्वके श्लोक में यह सिद्ध किया गया कि कर्म स्वयम् न फलका दाता है न फल को उत्पन्न ही करने वाला है और अपूर्व आदि के सिद्धान्तों की कल्पना जड़ और विनाश शील कर्मों में ऐसा कोई सामर्थ्य उत्पन्न नहीं कर सकती। विपरीत इसके यह संपादन किया गया कि चेतन ईश्वर ही कर्मानुकूल फल का दाता है और कर्म का उद्देश्य ईश्वराराधना ही है। इसही पक्ष की पुष्टि इस श्लोक में एक पौराणिक आख्यान द्वारा की गई है। यदि कर्मों में स्वयं फलदातृत्व सामर्थ्य होती तो ऐसा विधिपूर्वक किया गया दक्ष यज्ञ (केवल इस कारण कि उसके द्वारा शिवापमान किया गया था) दक्ष के विनाश का कारण कैसे होता। अतः विधिपूर्वक किया हुआ यज्ञ भी जब ईश्वराराधना रहित होने

के कारण केवल मात्र कुफल ही उत्पन्न कर सका तो निश्चय ही है कि ईश्वर ही मुख्य फलदाता है । उसकी सावमानना सहित किया गया जब विधिकर्म (अर्थात् जिसकी आज्ञा ईश्वर ही ने की है) भी अनिष्ट फलता है तो निषिद्धकर्म का कहना ही क्या । कर्म ईश्वराराधना का हेतु होता हुआ उपासना या भक्ति के राज्य में ला डालता है और उपासना और भक्ति सिद्ध होने पर ज्ञान देकर पशु को पशुपति कर देती है । इस भांत कर्म भी मोक्ष का साधन होता हुआ अपना सामंजस्य पाजाता है ।

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता—
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥२१॥

अन्वय :—हे शरणद ! तनुभृताम् अधीशः क्रियादक्षः दक्षः क्रतुपतिः, ऋषीणाम् आर्त्विज्यम्, सुरगणाः सदस्याः, क्रतुफलविधानव्यसनिनः त्वत्तः क्रतुभ्रेषः; ध्रुवम् श्रद्धाविधुरम् मखाः हि कर्तुः अभिचाराय (भवन्ति)

संस्कृतार्थ :—हे प्रपन्नार्तिहर । अखिलजीवस्वामी दक्षप्रजापतिस्स्वयमपि यज्ञसंपादनक्रियाकलायां महाकुशलो यत्र यजमानो भृगुपतिप्रभृतय ऋषयो यत्र ऋत्विजादय इन्द्रादयो यत्र सभासदः, तस्यापि सर्वांगसंपूर्णस्य यज्ञस्य यागादिकर्मफलदानैकनिष्ठत्त्वत्कर्तृको विनाश इति महदाश्चर्यम् । अथवा निश्चितं भगवद्भक्तिविरहितानि यागादिकर्माणि कर्तॄणां नाशाय शुष्कश्रमाय वा भवन्ति ।

एवं किल श्रूयते । पुरा विश्वसृजां सत्रे समागताः सर्वे ऋषयश्च देवाश्च । दक्षप्रजापतिमागतं दृष्ट्वा तस्याभ्युद्गमायोत्तस्थुस्सर्वे सभासद ऋते विरंचिञ्च शर्वञ्च । ततश्च स दक्षः शर्वाय चुकोपैवं व्याजहार च, "श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः । अयं शिवस्तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपो कृतमद्दुहितृपाणिग्रहण इति मे शिष्यतुल्योऽपि भूत्वा दर्पान्मे प्रत्युत्थानाभिवादनक्रियां नाकरोत् । एष लुप्तक्रियो मानी भिन्नधर्मसेतुः श्मशानचारी भूतप्रेतसहचरो

नग्नोन्मत्तवदटनशीलश्चिताभस्मकृतस्नानो नरकपालविभूषणः शिवरूपेणाशिवो हि वर्तते। अस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे मया मृगशावाक्षी सुसाध्वी कन्या मर्कटलोचनाय परमेष्ठिनोऽनुरोधवशाद्दत्ता"। अप्रतीपमवस्थितमपि शिवमेवं विनिंद्य दक्षः किल शशाप 'अयं शिवो यज्ञभागं न लभतामिति'। ततः प्रभृति शिवे दक्षो विद्वेषमकरोत्।

एवं विद्विषतस्तस्य सुमहान्कालोऽतिचक्रमे। यदा तु परमेष्ठिना ब्रह्मणा दक्षः सर्वेषां प्रजापतीनामाधिपत्येऽभिषिक्तस्तदा तेन बृहस्पतिसवो नाम क्रतूत्तमः समारेभे। तत्र सती भगवती शिवस्य भार्यानाहूतापि शिवेनाननुमोदिता जगाम। दक्ष भयान्न कोऽपि जन आगताया अपि तस्याः स्वागतं चक्रे। तं यज्ञमरुद्रभागं चावेक्ष्य, पित्राकृतावहेलनां स्वपतौ शिवे चानुभूय, यज्ञस्याधीश्वरी सा किल चुकोप। सभ्यान्निर्भर्त्स्य, शितिकंठगर्हिणो पितुरुत्पन्नमिदं शरीरं न धारयिष्ये इति वदन्ती सा सती ज्वलदग्नावात्मानं जुहाव। सतीमेवं विनष्टां दृष्ट्वा शिवगणा यज्ञविध्वंसायोदतिष्ठन्। भगवान्भृगुस्तान् स्वब्रह्मतेजसा विद्रावितवांश्च।

भवो नारदातिपत्रासत्कृताया भवान्या निधनं श्रुत्वात्मनश्चावमाननां बहु चुक्रोध। भगवान्धूर्जटिस्तडिदवह्निप्रभां जटामुत्कृत्य भुवि विससर्ज। तज्जटायाः समुत्पन्नो वीरभद्रः किं तव करोमीत्यवोचत्। तं किंकरं वीरभद्रं भगवान् रुद्रो दक्षयज्ञविनाशाय प्राहिणोत्। स तत्र गत्वा यज्ञं विनाश्य, सर्वान्देवान् सभ्यांश्च व्यंगान्कृत्वा दिशि दिशि विद्रावितवान्। जुह्वतः स्रुवहस्तस्य भृगोः श्मश्रूणि लुलुंचे। न कोऽपि देवः सभासद्वाऽविकलांगो गतः। दक्षं भुवि निपात्य तस्योरसि चरणौ निधाय तीक्ष्णखड्गेन तस्य शिरो विकर्तुं प्रयतमानो वीरभद्रश्छिन्नमपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत्। स तत्सर्वं देवयजनं दग्ध्वा कैलासं प्रतीयाय।

एवं विध्वंसिते यज्ञे देवाः किल विष्णुमुपजग्मुः। स तान् शिवतोषणं प्रत्यादिदेश। हतैश्वर्या अशरणास्तेऽन्ततः शिवमेव शरणं ययुः। ते सर्वे आशुतोषं स्तोत्रैरुपतस्थिरे तस्य यज्ञभागमकल्पयंश्च। ततो श्रीभगवानुवाच 'नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूतानां दंडस्तत्र धृतो मया"। एवं ब्रुवन्स्वप्रसादात्सर्वान्देवान् यथापूर्वमविकलांगान्समकरोत्। दक्षोऽपि सुप्तोत्थित इवोत्तस्थौ शर्वं तुतोष च। सर्वे देवाः पृथक्पृथक् स्वापराधान्स्वीकृत्य भगवतः शिवस्य क्षमां ययाचिरे लेभिरे च। इति पुरावृत्तम्।

भाषार्थ :—हे सब को शरण देने वाले शिवजी ! सब जीवों के मालिक प्रजापति दक्षजी जो स्वयं यज्ञसंपादनकला के महान पंडित थे वे तो जहां यजमान थे, ऋषि लोग जहां ऋत्विजादि थे और देवता लोग जहां सभासद थे, ऐसे यज्ञ का भी साक्षात् आपके द्वारा कि जिनको यज्ञफल देने का व्यसन सा है, विनाश किया गया । निश्चय श्रद्धारहित यज्ञादि कर्ता के नाश ही का कारण होते हैं।

भावार्थ :—हे जीवमात्र की शरण शिवजी ! यह सुनकर कि दक्ष का यज्ञ आपने नष्ट किया, बड़ा आश्चर्य होता है। कारण कि यज्ञ नाश करना तो राक्षसों का कर्म कहा जाता है। आपतो स्वभाव से ही सदा यज्ञ का फल देने के व्यसनी से रहे हैं कारण कि यज्ञादि करने की आज्ञा वेदों में आपही ने दे रक्खी है। अच्छा ऐसा देखा जाता है कि गलत काम बड़े लोग बिगड़वा देते हैं कि काम ठीक तरह से प्रारंभ किया जाय। सो इस स्थिति की भी संभावना नहीं कारण कि यज्ञ के यजमान दक्ष स्वयं इस कला के महा पंडित थे, भृगुपति इत्यादि ऋषि-सिरमौर उसके ऋत्विज होता अध्वर्यु और ब्रह्मादि थे। साक्षात् इन्द्रादि सब देवता वहां सभासद थे। हे शिवजी यदि ऐसा यज्ञ भी इतना गलत था कि उसे आपको मिटवाना पड़ा तो निश्चय करके फिर यज्ञ तो कोई कर ही नहीं सकता। अतिरिक्त उसके यजमान दक्षप्रजापति तो आपके श्वसुर थे। अतएव आप उनके चरण पूज्य थे। सो हे शिवजी आपको वहां स्वयं ही जाना चाहिये था और यदि यज्ञ ठीक विधि से नहीं हो रहा था तो कृपया आपको त्रुटि सुधार देना चाहिये था कारण कि आप ही सब विद्याओं और कलाओं के प्रभव हैं। ऐसा कुछ भी न कर हे शिवजी ऐसे बड़े भारी धर्मकार्य का आपही धर्मसेतु के द्वारा नाश किया जाना आपको मनमाना प्रभू और स्वाज्ञाविरोधी सिद्ध करता है। यदि ऐसा नहीं है तो इसमें कोई बड़ा भारी महानकारण होगा। हां था ! वह यह कि दक्ष जी सदा से आपसे निष्कारण द्वेष किया करते थे। प्रत्यक्ष कारण तो कुछ थाही चाहे उसके मूल आप न थे परंतु वह प्रत्यक्ष कारण कि जिसे अभी कहेंगे ऐसी स्थायी रार का पर्याप्त कारण प्रतीत सा नहीं होता। दक्षजी जो आपसे द्वेष करते थे उसका एक स्थायी कारण भी था और वह था पारस्परिक स्वभावविरोध। यदि कोई यह पूंछे कि भाई यदि दक्ष जी को शिव भगवान से स्वाभाविक द्वेष था तो उन्हों ने अपनी कन्या क्यों व्याह दी थी तो इसका तो बड़ा सरल

सा उत्तर है। दक्षजी कन्या उत्पन्न करने में इतने दक्ष थे कि जितने वे यज्ञ किया में भी दक्ष न थे। उनके सत्ताइस या सोलह या तीस कितनी कन्यायें थीं हमें पता नहीं। पता यह है कि उनके कन्यायें अत्यधिक थीं और इसलिये उनको वरों की अत्यधिक आवश्यकता थी। जो लोग अधिक कन्या वाले हैं, यहां तक कि जो लोग कन्या वाले हैं वे कह सकते हैं कि वरखोज कितना कठिन कार्य है। बहुधा बड़ी खोज और परिश्रम करने पर भी अयोग्य ही वर हांथ लगता है कारण कि विवाह जन्म मृत्यु आदि में भावी का भी बड़ा हांथ है। इन सब कारणों के होते हुये ब्रह्माजी ने शिवजी को रिकमेंड (सिफारिश) किया था। ब्रह्माजी की बात प्रजापति जी टाल भी नहीं सकते थे अतएव सती का शिवजी के संग जो विवाह हुआ था वह एक होनहार थी अन्यथा दक्षजी शिवजी को पूर्णतया जानते हुये अपनी कन्या कभी न देते क्योंकि दोनों का जीवनोद्देश्य उत्तर दक्षिण जाता था।

शिवजी ज्ञानमार्गी त्रिगुण से परे विहरने वाले थे, उनको अपनी देह या लोकप्रथा का होश भी न रहता था। विपरीत इसके दक्षजी, भेदवादी, तत्वविमुख, गृहस्थों के कुटिल धर्मों में रत, स्त्रीसुखभोगी, कर्मतंत्रवादी, वेदवादरत, देहाध्यासी, परंतु, एक राजा महाराजा की हैसियत से रहने वाले थे। शिवजी उनके स्वभाव के ठीक विपरीत होते हुवे भी गरीब थे। भला ऐसी हालत में दक्षजी शिवजी से स्वाभाविक द्वेष न रखते तो करते क्या। फिर जले पर एक दिन नमक छिड़क गया—अर्थात् हुवा यह कि ब्रह्माजी की सभा में (शायद कोई यज्ञ था, क्योंकि आगे यज्ञों की भरमार वैसीही थी जैसे आज कल पोलिटिकल मीटिंगों की) दक्षजी को आते देख सब तो उठ खड़े हुवे परंतु ब्रह्माजी और शिवजी बैठे ही रहे। शायद कोई वेदांत का लटका हल हो रहा होगा। खैर, ब्रह्माजी तो दक्ष जी के कई बातों में बड़े थे सो ब्रह्मा जी को तो दक्ष ही ने प्रणाम किया परंतु शिव जी का न उठना दक्षजी को असह्य हो गया। समझदारी तो यह कहती थी कि दक्षजी शिवजी के इस कार्य को अनुचित जानते हुए भी मौका बरा जाते परंतु यदि यही बात केवलमात्र होती तब न। दक्षजी तो शिवजी के संबंध में पूर्व ही से पेट्रोल हो रहे थे। उसमें न उठकर शिवजी ने चिनगारी डाल दी। आग भभक उठी। दक्षजी लगे शिवजी को बेशुमार गालियां देने। दक्षजी सब बैठे हुए देवता और ऋषियों की दुहाई देकर और शिवजी की ओर लाल २ आंखें कर कहने लगे "देखा आप सब लोगों ने कि यह लंगोटियामार

लौंडा कितना ढीठ होता चला जा रहा है। यह हमारा दामाद है, हमारे लड़के की जगह है परंतु तिस पर भी अपने पिता तुल्य पूज्य हमारा कोई सम्मान नहीं करता। सबने उठकर हमारा सम्मान किया परंतु अपने को सबसे बड़ा लगाने वाला यह अभिमानी नहीं उठा। इसे क्या हम कभी अपनी लड़की देते। इस मामले में तो ब्रह्मा जी ने हमें फंसवा दिया। कहाँ वह हमारी हरिणी ऐसे नेत्रों वाली बेटी कहां यह बंदरमुहा। इसको तो अपने पास बैठाना भी अपनी लोक पालता की शान में धब्बा लगाना है। यह क्या भले आदमियों की संगति के योग्य है। न तो यह संध्यागायत्री करे, न नहाये धोये, न किसी धर्ममार्ग पर चले। केवल मात्र अभिमानी है। जब देखो तब श्मशान में मंत्र साधा करता है। भूत प्रेत विद्या द्वारा पेट पालता है, शैतानों और बदमाशों की सोहबत रखता है। नशे में डूबा, नंगा, पागलों की भांत घूमा करता है। लटैं फटकारे कभी हँसता है कभी रोता है। नहाते ही चिता की भस्म लपेट लेता है, मुर्दों की खोपड़ियों की माला पहिनता है। भूत पिशाचों को साधे है, उनकी ही आराधना करता है। अरे भाइयों कहां तक कहें, नाम का शिव परंतु वास्तव में महा अमंगलरूप और अस्पृश्य ही यह है। इसके हांथो विधाता ने हमारी सती साध्वी कन्या फंसा दी।" ऐसा कह और हांथ में जल ले दक्ष जी ने तुरंत ही शिव जी को शाप भी दे डाला कि आज से शिव जी की जीविका या माफी या यज्ञभाग जो कुछ समझो 'बंद'। आखिर तो ज़हर खाता ही है ऐसे को जीविका की क्या आवश्यकता। इतनी गालियां सुनाने, शाप देने पर भी दक्ष जी का पारा न उतरा और सब ऋषि और देवताओं के कहने पर भी कि बैठ जाइये, पैर पिराने लगे होंगे, आप बैठे नहीं उलटे पांवों वैसे ही अपने घर लौट गये।

ये सब गालियां शिवजी वैसे ही शांत मन बैठे सुनते रहे मानो वे सब गालियां किसी दूसरे को दी जा रहीं हों। परन्तु शिवजी के मुख्यगण नंदीश्वरजी से यह शिवापमान नहीं सहा गया और उन्हों ने भी दक्षजी को दुनियादार आदि कह कर और यह कह कर कि शिवजी को भी अपनी स्थूलदृष्टि ही के कारण दक्ष अपना सा जीवमात्र समझता है शाप कुछ ऐसे शब्दों में दिया कि जो ब्राह्मणमात्र पर लागू होती थी। भृगु जी से यह न सहा गया और वे शैवसंप्रदाय को गालियां और शाप देने लगे। नतीजा यह हुवा कि सभा में गाली गलौज का समा बंधते देख शांत स्वभाव शिवजी उठ खड़े हुवे और खिन्न मन कैलास चल दिए।

इस घटना को बहुत समय बीत गया परन्तु दक्ष जी का द्वेष शांत न होकर शिवजी के प्रति बढ़ता ही गया और मौका मिलते ही वे शिवापमान में न चूकते थे। पर कौतुकी शिवजी भी इसका कुछ खयाल न कर प्रत्युत उनकी सांसारिक उन्नति करते ही चले जाते थे। दक्ष जी सब प्रजापतियों के प्रभु बनाए गये और रुतबे की इस तरक्की के उपलक्ष में उन्होंने बड़ा भारी भोज दिया कि जिसको उस समय की भाषा में बृहस्पतिसव नाम से पुकारते थे। संसार भरे में बुलावा फिरा, कोई बाकी न रहा, देवगंधर्वयक्ष, यावत सृष्टि महाप्रजापति जी के मायापुर की ओर रवाना हुई। पाहुनों के जाते हुए विमानों से आकाश भर गया, हवा गूंज उठी। यद्यपि शिवजी को कैलास बुलावा नहीं गया था परंतु इतनी धूमधाम कब छिपी रह सकती थी। सती जी को अपने पिता के घर इस महोत्सव का पता लग ही तो गया। सती जी का मन पिता के घर जाने को हुवा। शिवजी से उन्होंने आज्ञा चाही। शिवजी ने कहा, सतीजी, भूल से नहीं जान बूझ कर अपमान करने के विचार से हम लोग नहीं बुलाए गए हैं। ऐसी हालत में तुम्हारा वहां जाना कदापि उचित नहीं और यदि जावोगी तो फल कदापि शुभ न होगा। भावीवश सती जी के मन ये बातें चढ़ी नहीं और वे विना बुलाये ही कुछ थोड़े से गण ले पिता के घर रवाना हुईं। जब सती जी वहां पहुँचीं तो इनकी किसी ने बात भी न पूछी, सबने मुंह फेर लिया क्योंकि दक्ष जी का ऐसा ही इशारा था। हां मां का हृदय अलबत्ता न माना। सती जी ने देखा कि जितना शिवजी ने कहा था उससे सैकड़ों गुना अधिक अपमान उनका हो रहा था, इतना ही नहीं जहां सब दामादों के भाग निकाले जाते थे वहां शिवजी का हिस्सा बिलकुल ही गायब होता था मानों शिवजी दामाद ही न थे और सती जी लड़की ही न थीं। बात बात पर दक्ष जी शिवजी का प्रसंग उठने पर उनका हर तरह अपमान करते थे। यह सब देख सती जी के हृदय पर कैसी बीतने लगी इसके लिये हृदय पर हांथ रख सोंचना होगा। उस पर भी भावी वश सती जी शिवजी की अवहेलना कर मातृपितृभक्तिवश यहां आई थीं। दोनों पक्षों से गिरी हुई सती जी की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। 'सब से कठिन जाति अपमाना'। थोड़ी ही देर में कर्तव्य का निश्चय कर यज्ञाधीश्वरी सतीजी अग्नि की ज्वाला सदृश बढ़ी हुई, भरी सभा में खड़ी हो, यों बोलीं। "जिनसे बढ़ कर संसार में कोई प्रिय पदार्थ नहीं, जो समस्त देहधारियों को प्रिय हैं जो किसी से भी वैर नहीं करते, ऐसे (शिवजी) के प्रति, हे पिता, आपके अतिरिक्त और कौन दूसरा दुर्भाव

रख सकता है। बड़े तो वे होते हैं जो दूसरों में गुण ही देखते हैं और अवगुणों पर धूल डालते हैं परन्तु आप लोग चांद में धूल डाल २ अपने आप ही को गंदा कर रहे हैं। जिन शिवजी की आज्ञा विश्व में कोई लांघ नहीं सकता उनके साथ द्वेष कर आप लोग अपना भला चाहते हैं। हे पिताजी! आपके दिये इस शरीर को अब मैं न रक्खूंगी, और इसे भी आप अपने यज्ञ की एक आहुति ही समझिये। आपका दिया यह शरीर कदापि अब शिवजी के योग्य नहीं है"। ऐसा कह भगवती जी सशरीर यज्ञकी ज्वालाओं में कूद पड़ीं। चारों ओर हाहाकार मच गया। और साथ में आये रुद्रगण ऐसे यज्ञ का नाश करने लगे। वे विचारे बहुत थोड़े और बहुत कम बल वाले छटैल गण थे अतएव ब्राह्मणत्व का बल दिखाते हुए जब भृगुजी ने यज्ञनाश करने वालों को नाश करने वाली यजुर्वेदीय एक पुड़िया अग्नि में डाली तो उन गरीबों से भागते ही बना। इस भांत इस घोर दुर्घटना के होने पर भी यज्ञकार्य पूर्ववत् चलता ही रहा और भृगुजी दाढ़ी फटकार फटकार बड़े भारी कलछुले द्वारा घी उलच उलच इन्द्राय स्वाहा और उपेन्द्राय हा हा करते ही रहे।

इधर नारद जी शिवजी के पास पहुँचे और सतीदाह की दुर्घटना विस्तार पूर्वक कह चले। अपने अपमान और सतीनिधन को सुनते ही सुनते शिवजी की शांति भंग हो गई। क्रोध से अपने ओंठ चबाते महाराज ने अपनी बिजली सी तड़पती हुई जटायें फटकारीं और उनसे पृथिवी पर चोट किया। इतना करते ही, एक महान शरीर कि जिसकी लंबाई आकाश तक थी, जिसके हजारों भुजायें थीं और जिसके तीनों नेत्र मानो तीन सूर्य थे, जिसकी कठिन दाढ़ें, और अग्नि की ज्वाला सदृश जटायें थीं, कपालों की माला पहिने हांथ जोड़े, शिवजी के सम्मुख आ खड़ा हुवा और बोला, 'हे स्वामिन्, सेवक को क्या आज्ञा है'। आज्ञा हुई कि, 'तुरंत हमारे गणों की सेना ले दक्षनगर जाव और दक्ष को यज्ञ सहित नष्ट करो'। तब वीरभद्र शिवजी की प्रदक्षिणा कर और रुद्रपार्षदों को साथ ले जगत का नाश करने वाले त्रिशूल को उठा महाभयंकर गर्जना करते मायापुर की ओर रवाना हुए।

उत्तर की ओर से महाघनघोर उठी हुई आंधी को देख सब सभासद घबड़ाने लगे और समझे कि सतीदाह का भयंकर प्रतिफल उन्हें मुंह बाये खाने आ रहा है। इस भांत सोचविचार होही रहा था कि देखते ही देखते रुद्रगणों ने आ

यज्ञ स्थान घेर लिया। महादेवजी के गणों का स्वरूप वर्णन करे ऐसा कौन समर्थ है। उन अनेक हांथ, अनेक उदर, अनेक स्वरूप, अनेक रंग वाले, अद्भुत गणों ने विविध प्रकार के अस्त्रों की वर्षा कर यज्ञ भूमि का नाश करना प्रारम्भ किया। किसी ने बांस तोड़ डाला, किसी ने स्त्रियों के रहने के घर उजाड़ डाले। कोई अग्निशाला कोई पाकशाला, कोई विहारभूमि नाश करने लगे। यज्ञ पात्र तोड़ डाले गये अग्नियों में पानी उलच दिया गया, कुण्डों में मूता गया और यज्ञ वेदी का कहीं पता न लगा।

कोई मुनियों को पकड़ने लगे कोई उनकी पत्नियों को डराने लगे। दूसरे गण देवताओं को, जो भाग रहे थे पकड़ २ कर पीटने लगे। मणिमान ने भृगु को जा पकड़ा और आहुति डालते हुवे हांथ के भारी कलछुले को छीन उनकी लंबी दाढ़ी को वह झटका दिया कि सारी दाढ़ी उसके हांथ आगई और घी के स्थान पर अग्नि में रुधिर टपकने लगा। चंडीशगण ने पूषण और नंदीश्वर ने भग को धर दबाया। पूषण के दांत उखाड़ लिये गये और भग की एक आंख निकाल ली गई। बाकी सब देवता ऐसे भागे कि उनकी गंध भी न मिली। परन्तु गण भी बड़े परले दर्जे के शैतान थे, दौड़ दौड़ सबको शिवापमान में भाग लेने का प्रसाद बराबर बांटते ही रहे। वीरभद्र ने अपना शिकार ढूढ़ दक्ष महाराज को भूमि पर गद्द से दे मारा और उनकी छाती पर घुटने टेक तेज तलवार से गर्दन रेतना आरम्भ किया। कटने पर भी गर्दन धड़ से अलग न हुई। महाराज वीरभद्र ने देखा कि मंत्रयुक्त मेरी ये तलवार भी गर्दन की खाल अलग नहीं कर पाती यह बड़े अचंभे की बात है। तब कटी गर्दन को अच्छी तरह कुचल दिया। इस भांत संपूर्ण यज्ञ और यज्ञ भूमि मटिया मेट कर दी गई।

ये सब देवता और ऋषिगण अपने टूटे फूटे रुधिर बहते अंगों को लिये ब्रह्मा विष्णु की शरण गये। ब्रह्मा और विष्णु पहिले से ही होशियार थे और इस यज्ञ में शामिल नहीं हुए थे। इन दोनों ने देवताओं को खूब फटकार बताई और कहा कि जिस भांति तुम लोगों ने निरपराध शिवजी का अपमान किया था उसका और फल ही अन्यथा क्या हो सकता था। यह भी कहा कि शिवद्रोहिया की रक्षा करने या उन्हें शरण देने में हम लोग सर्वथा असमर्थ हैं। हम लोगों को शिवजी के बलवीर्य का पता नहीं। हम लोग तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते। हां सलाह निश्चय दे सकते हैं और वह यह कि आप लोगों की

भलाई शिवजी की शरण गहने में है । लाचार सब राजी हुए और ब्रह्माजी को अगुवा कर मुंह लटकाये हांथ बांधे कैलास आये ।

हे शिवजी ! वे सब देवता आप शरणद की शरण में आ उपस्थित हुए और लगे अपनी टूटी फूटी भाषा में आपका गुणगान करने । हे सदा के आशुतोष शिवजी ! ब्रह्माजी को प्रार्थना आपने मानली । हे शिवजी ! अपनी परंप्रिया सती जी की हत्या करने वालों को भी आपने केवलमात्र इतना ही कहकर क्षमा कर दिया कि, " हे ब्रह्माजी ! बच्चों द्वारा किये गये पापों को न मैं दोहराना चाहता हूँ न दिल में रखना चाहता हूँ। ये सब ईश्वरी माया के वशीभूत होकर ही ऐसे हुए हैं और इसही कारण हमने इन्हें दण्ड भी दिया " ('नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये । देवमायाभिभूतानां दंडस्तत्र धृतो मया') । हे शिवजी ऐसे घोर अपराधियों के प्रति ऐसे गांभीर्यपूर्ण वाक्य ही तो यह सिद्ध करते हैं कि जगत के माता पिता सत्यमेव आप ही हैं और आप की इच्छा के विना कुछ नहीं होता क्योंकि ऐसे कठिन अवसर पर भी आप इन अपराधियों को देवमाया वशीभूत बालक ही कहते हैं । हे शिवजी, आपने प्रसन्न होकर ब्रह्माजी की प्रार्थना नुसार सब देवताओं को यथा पूर्व अविकलांग कर दिया । प्रजापति दक्षजी के जले हुए सिर के स्थान पर बकरे का सिर निकल आया और उन्हों ने भी आपकी स्तुति की । और इसही तरह सब देवताओं गंधर्वों और अन्योंने अपने अपने खोये अंग और पदार्थ पा आपकी अलग अलग स्तुति की और क्षमा प्राप्त की ।

क्रियादक्षः :—क्रियायां यज्ञसंपादनकलायां दक्षः कुशलः क्रियादक्षः । अर्थात् यज्ञ की क्रिया में कुशल ।

तनुभृताम् अधीशः :—शरीरधारिणां स्वामी पतिः अर्थात् प्रजापति ।

क्रतुभ्रेषः :—क्रतोः यज्ञस्य भ्रेषः नाशः क्रतुभ्रेषः अर्थात् यज्ञ नाश ।

क्रतुफलविधानव्यसनिनः :—क्रतूनां फलानि क्रतुफलानि तेषां विधानं निष्पादनं तेन व्यसनी तस्मात् क्रतुफलविधानव्यसनिनः अर्थात् यज्ञ फल देने का चस्का हो जिसको उसकी ओर से ।

श्रद्धाविधुरम् :—श्रद्धया भक्त्या विधुरम् विरहितम्—अर्थात् भक्ति रहित ।

अभिचाराय :—नाशाय—नाश के लिये।

... ...

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥

अन्वय :—(हे) नाथ! धनुष्पाणेः ते मृगव्याधरभसः रोहिद्भूताम् स्वाम् दुहितरम् ऋष्यस्य वपुषा प्रसभम् रिरमयिषुम् गतम् (अतएव) त्रसन्तम् दिवम् यातम् अपि सपत्राकृतम् अमुम् अभिकम् प्रजानाथम् अद्य अपि न त्यजति।

संस्कृतार्थः—हे स्वामिन्! धृतपिनाकस्य तवाखेटोत्साहातिशयो मृगीभूतां स्वकन्यां मैथुनाय मृगशरीरेण बलादभिजिगमिषुमत एव लज्जया बिभ्यतं स्वर्गं गतमपि शरविद्धं कृतमिवामुं कामुकं ब्रह्माणमधुनापि विश्वासाभावान्न त्यजति, स्वबाणलक्ष्यागोचरं गमयितुं नोत्सहते, स्वबाणलक्ष्यगोचरे एव स्थापयति। एवंहि पुराणेषु प्रसिद्धम्।

"ब्रह्मा स्वदुहितरं संध्यामतिरूपिणीमालोक्य कामवशो भूत्वा तामुपगंतुमुद्यतः। सा चायं पिता भूत्वा मामुपगच्छतीति लज्जया मृगीरूपा बभूव। ततस्तां तथा दृष्ट्वा ब्रह्मापि मृगरूपं दधार। तच्च दृष्ट्वा त्रिजगन्नियन्त्रा श्रीमहादेवेनायं प्रजानाथो धर्मप्रवर्तको भूत्वाप्येतादृशं जुगुप्सितमाचरतीति महतापराधेन दंडनीयो मयेति पिनाकमाकृष्य शरः प्रक्षिप्तः। ततः स ब्रह्मा खंडितः पीडितश्च सन् मृगशिरोनक्षत्ररूपो बभूव। ततः श्रीरुद्रस्य शरोऽप्यार्द्रानक्षत्ररूपो भूत्वा तस्य पश्चाद्भागे स्थितः"। इति मधुसूदनस्वामी।

भाषार्थ :—हे सब को स्ववश रखने वाले शिवजी! हाथ में पिनाक धनुष लिये हुवे आपका मृगया करने का घोर उत्साह, मृगीरूपिणी अपनी कन्या के साथ ही मृग रूप धर बलात् कामोपभोग करने की इच्छा कर उसका

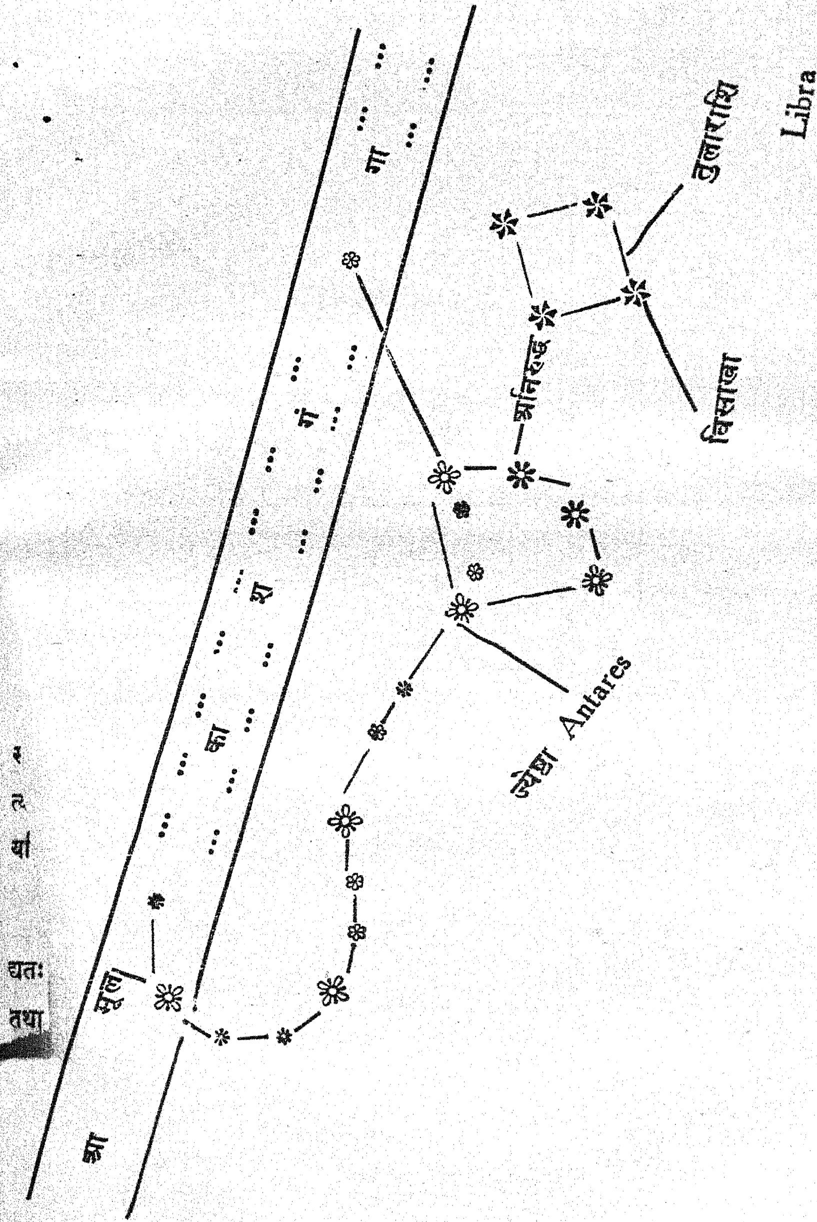
स्वर्ग तक पीछा करने वाले और वहां भी आपका बाण मानो शरीर में घुसने ही चाहता है इस भय से भयभीत बने रहने वाले, उस कामुक ब्रह्मा का पीछा आज तक नहीं छोड़ता है।

भावार्थ :—हे शिवजी ! त्रिलोकनियामक होने के कारण समय समय पर सबही के अनाचार का आपको दमन करना पड़ता है । ब्रह्माजी के घोर अनाचार का नक्शा आकाश में आज भी खिंचा दिखाई पड़ता है।

पौराणिकप्रसंग :—ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है कि "ब्रह्मा अपनी कन्या संध्या को अति रूपवती देख कामवश हो गया और उससे बलात्कार करने को उद्यत हुआ। वह कन्या यह देख कि यह पिता होने पर भी मुझ से भोग करना चाहता है लज्जा से मृगी रूप हो गई । तब उसको मृगी रूप देख ब्रह्मा ने भी मृग रूप धर लिया। यह देख तीनों जगत के नियामक श्रीमहादेव जी ने यह विचार कर कि यह सब प्रजा का मालिक और धर्मप्रवर्तक होकर भी इस तरह घृणित आचरण करने पर उतारू है अतएव इस बड़े अपराध के कारण मेरे द्वारा दंडनीय है, पिनाक धनुष खींच बाण छोड़ दिया। तब ब्रह्माजी लज्जित और पीड़ित हो मृगशिरानक्षत्र हो गए । तब श्रीरुद्रभगवान का बाण भी आर्द्रा नक्षत्र रूप होकर उनके पीछे खड़ा हो गया"। मधुसूदनस्वामी।

ज्योतिषप्रसंग :—आजकल (अर्थात् विजयादशमी के दिवस जब कि इ[illegible] श्लोक पर भाष्य लिखा जा रहा है। आश्विन कृष्णाष्टमी सं० १९८९ को [illegible] भाष्य प्रारम्भ किया गया) यदि कोई संध्या को पश्चिमाभिमुख हो खड़ा हो [illegible] उसे आकाश में आकाश गंगा पूर्व से पश्चिम तक एक दुग्धधवल पुल की [illegible] दिखाई पड़ेगी। आकाश गंगा के पश्चिमी भाग में दाहिनी ओर सुन्दर वृश्चि[illegible] राशि एक स्त्री की चोटी या विच्छू के उठे हुये डंक की भांति दिखाई पड़ेगी। इस वृश्चिक राशि के डंक में जो आकाश गंगा की सफेदी में है मूलनक्षत्र का तारा और इसकी (विच्छू की) गरदन पर कि जहां से यह त्रिभुज हुई है ज्येष्ठानक्षत्र का तारा है और मुख पर अनिरुद्ध का तारा है।

आकाश के जिस स्थान पर संध्या के समय यह वृश्चिक राशि उदय है ठीक उसही स्थान से कुछ पश्चिम ओर दबे हुये १२ घंटे बाद अर्थात् रवि उदय से पूर्व वृषराशि दिखाई पड़ेगी। ये वृषराशि चंद्रमा के अस्त होने के बाद आकाश



वृश्चिकराशि = Scorpio

में सिर पर दिखाई देगी। इसही राशि में मृगशिर नक्षत्र है और मृगशिर नक्षत्र के तीन तारों से ठीक पीछे आर्द्रा नक्षत्र का एक बड़ा सा तारा है। आर्द्रा नक्षत्र से ठीक कई गज नीचे पूर्व की ओर परंतु उसही से समरेखा में आकाश को अपने तेज से उज्ज्वल करता हुआ मृगव्याध या लुब्धक नाम का तारा है। "अशीतिभागैर्याम्यायामगस्त्यो मिथुनान्तगः। विंशे च मिथुनस्यांशे मृगव्याधो व्यवस्थितः" ॥—सूर्य सिद्धान्त अ-८-श्लोक १०। तदुपरिभाष्ये—"मृगव्याधो लुब्धको मिथुनराशेर्विंशतिभागे स्थितः"। यही लुब्धक या मृगव्याधका तारा शिवजी का शिकारी स्वरूप है जिसको संकेत कर इस श्लोक में 'मृगव्याधरभसः' ऐसा पद आया है। इस मृगव्याध या लुब्धक तारे से समरेखा में ठीक ऊपर की ओर आर्द्रा नक्षत्र का चमकता हुआ तारा है जो मानो शिवजी का बाण है। इस आर्द्रा नक्षत्र से बिलकुल मिले परन्तु अलग अलग तीन छोटे छोटे तारे हैं जिनमें एक बड़ा है और दो छोटे हैं। येही मृगशिर नक्षत्र हैं जिन्हे हन्ना हन्नी या हरिण हरिणी कहते हैं। इनमें बड़ा हरिण और छोटी हरिणी है। हरिण ब्रह्मा और हरिणी संध्या है। हरिण के पीछे बाणवत आर्द्रा नक्षत्र और उससे ठीक नीचे लुब्धक शिव हैं। इस ही आकाशीय स्थिति का इस श्लोक में वर्णन है।

प्रजानाथम्—प्रजापतिम् ब्रह्माणम्, ब्रह्माजी को।

प्रसभम्—बलात्, जबरदस्ती, बलपूर्वक।

अभिकम्—कामुकम्—कामी को।

रोहिद्भूताम्—मृगीरूपधारिणीम्—मृगी बनी हुई को।

रिरमयिषुम्—रमयितुम् इच्छुम्—भोग करने की इच्छा रखने वाले को।

ऋष्यस्य वपुषा—मृगस्य शरीरेण—मृग शरीर धारण करके।

धनुष्पाणेः—धनुः पाणौ यस्य सः तस्य—हांथ में धनुष लिये हुये के।

सपत्राकृतम्—पत्रेण शरेण सह इति सपत्रम्, असपत्रम् सपत्रम् कृतम् इति सपत्राकृतम्। अर्थात् मानो बाण शरीर में घुसने ही चाहता है इतने निकट तक बाण पहुँचा दिया।

उत्तर

पूर्व

पश्चिम

दक्षिण

आ का श गं गा

CASSIOPEIA
जमदग्नि
भरणी
PLEIADES
अश्विनी
कृत्तिका
रोहिणी
ALDEBARAN
मृगशिर
POLLUX
पुनर्वसु
मिथुन
PROCYON
प्रभास
आर्द्रा
ORION
BETELGEUSE
RIGEL
बनराज
लुब्धक
मृगव्याध
DOGSTAR OR SIRIUS
CANIS MAJOR
नौका
ARGO NAVIS
अगस्त्य
CANOPUS

त्रसन्तम् :—लज्जमानम् बिभ्यतम्—लजाए हुए डरते हुये । भाष्य में 'त्रिसन्तम् दिवमपि गतम्' ऐसा अन्वय किया गया है । जिसके तात्पर्य यह होते हैं कि जब मृगी भागी तो ब्रह्माजी भी उसके पीछे लगे लगे स्वर्ग तक चले गये, अर्थात् भय और लज्जावश किसी एकान्त स्थान की खोज में बहुत दूर निकल गये । मधुसूदनजी ने 'त्रसन्तम् अद्यापि न त्यजति' ऐसा अन्वय करके यह भाव प्रकट किया है कि मानो ब्रह्माजी आज भी बाण से डर रहे हैं । ऐसे अर्थ में यह भाव नहीं खुलता कि आखिर ब्रह्माजी ब्रह्म लोक त्याग स्वर्ग क्यों गये ।

मृगव्याधरभसः :—मृगव्याधः लुब्धकः तस्य रभसः उत्साहातिशयः । शिकारी के उत्साह से भरे । मृगव्याध शब्द में श्लेषात्मक ध्वनि है अर्थात् मृग-व्याध नामक तारे का अर्थ भी साफ स्पष्ट होता है ।

आर्द्रानक्षत्र :—इसको पश्चिमी बेटील्यूज (Betelguese) कहते हैं । कहा जाता है कि जब इसमें पृथिवी या सूर्य पहुँचता है तब यह रोता है । इससे वर्षा होती है । हमारे यहां भी आर्द्रानक्षत्र से वर्षा का प्रारंभ माना जाता है । मतलब भी है, गीला करने वाला । इसके स्वामी रुद्र कहे जाते हैं । इसके चारों पाद मिथुन राशि में हैं ।

मृगशिर :-इसको अंग्रेजी में ओरायन कहते हैं । इसमें जब पृथिवी जाती है तब इससे असह्य तपन पैदा होती है, इससे ही मृगशिरा का तपना प्रसिद्ध है । किसी समय में इसही नक्षत्र से वर्ष आरंभ होता था । इसही लिये अगहन को अग्रहायण या मार्गशीर्ष या मंगसर अभी तक कहते हैं । इसही बात को लेकर लो० मा० तिलक महाराज ने ओरायन नामक ग्रंथ लिखकर परम प्रसिद्धि प्राप्त की थी । इसका स्वामी चंद्रमा है और इसके दो पाद वृष और दो पाद मिथुन राशि में है ।

मृगव्याध :—इसको लुब्धक कहते हैं । अंग्रेजी में इसे (Sirius) सीरियस या शिकारी कुत्ता (Dog Star) कहते हैं । इसमें भी वही शिकार की ध्वनि है । शिवजी का नाम भी मृगव्याध है ।

... ...

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणव-
त्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥

अन्वय :—(हे) पुरमथन, (हे) यमनिरत, स्वलावण्याशंसाधृतधनुषम् पुष्पायुधम् तृणवत् अह्नाय पुरः प्लुष्टम् दृष्ट्वा अपि देवी यदि देहार्धघटनात् त्वाम् स्त्रैणम् अवैति (तत्) अद्धा । (हे) वरद, बत ! युवतयः मुग्धा (एव भवन्ति)

संस्कृतार्थ :—हे त्रिपुरनाशक योगेश्वरेश्वर! आत्मसौंदर्यातिशयमाश्रित्याक्रमन्तं कुसुमशरं (मदनं) शुष्कतृणमिवाचिरं स्वसमक्षं भस्मावशेषीकृतं दृष्ट्वापि यदि भगवती पार्वत्यर्धाङ्गिनीकृतेति त्वां नारीजनासक्तं मन्यते तद्युक्तमेव तस्याः (मौग्ध्यस्य) । हे ईप्सितप्रद, कामिन्यो मोहितधिय एव भवन्ति ।

हे तुरीयधामन्, अष्टांगयोगसिद्धयोगेश्वरेश्वर ! स्वसौंदर्यसहायविवृद्धबलमपि मदनं पुराक्रमन्तमेव तुच्छतृणवदतिशीघ्रं सुदग्धं प्रत्यक्षीकृत्याप्यधुना यद्युमा भगवती त्वां पूर्वकृतात्मदुष्करतपःफलीभूतदाक्षिण्यवशाद्दत्तार्धदेहा सती स्त्रीपरायणमनुमन्यते तन्न तव स्त्रैणत्वप्रमाणमपि तु तस्या भगवत्या मौग्ध्यत्वमेव कारणमेवं विधे विपरीतबोधे ।

भाषार्थ :—हे त्रिपुरनाशक यमादिसिद्धयोगेश्वरेश्वर ! अपने (पार्वती जी के) सौंदर्य की आशा पर धनुष धारण करने वाले कुसुमायुध कामदेव को तृण की तरह एकक्षण में भस्मीभूत होते स्वयं देख कर भी यदि भगवती पार्वती आपकी देहार्ध प्राप्त करने के कारण आपको स्त्रीवश समझती हैं तो यह उनके योग्य ही है। हे मनोकामना पूर्ण करने वाले शिवजी युवती जन तो विमुग्ध बुद्धि होती ही हैं।

भावार्थ :—हे शिवजी आपका सगुण चरित किसे मोहित नहीं करता। देखिये आपकी अनन्यवृता भगवती पार्वती जी ही आपके संबंध में कुछ का कुछ समझे बैठी हैं। आपने जो उनके पूर्व दुष्कर और तीव्र तप का विचार कर उन्हें

अपना देहार्धदान क्या किया है वह समझने लगी हैं कि शिवजी तो अब हमारे गुलाम हो गये हैं। उन्हें हमारे विना चैन ही कहां। जो कहिये ऐसा वह नहीं सोच सकतीं कारण कि अपनी आंखों देख चुकी हैं कि उनके अनुपम सौंदर्य का पूरा सहारा लेकर आक्रमण करने वाला कामदेव भी एक ही क्षण में राख हो गया। सो ऐसा नहीं। वह समझती हैं कि तब शिवजी को किसी तबियतदार स्त्री के स्वाद का पता ही न था। लड़कपन में छोटे बच्चे मीठा भी प्रारंभ में थूक देते हैं परंतु वेही स्वाद चढ़ने पर मीठे के लिये रिड़कते हैं। इसही भांत भगवती पार्वतीजी भी अपनी वे पूर्व वाली असफलताएं कि जिनके कारण सखियों के सामने कभी उनसे सिर उठाए नहीं उठता था अब विलकुल भूल चुकी हैं।

"शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित॥(कु.सं.३-७५)
तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥(......५-१)
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥"(.........२)

उच्च शिर वाले हिमालय पिता की अभिलाषा और अपने ललित शरीर सौंदर्य को व्यर्थ समझ पार्वती भी (मदनदाहोपरान्त) कि जिनकी आखें लज्जा के कारण अब अपनी सहेलियों में उठाये न उठती थीं, शून्य हृदय बड़े कष्ट के साथ घर की ओर चलीं। अपनी आंखों के सामने भगवान शिव द्वारा कामदेव को फुंकते देख भग्नमनोरथ पार्वती हृदय से अपने रूपकी निंदा करने लगीं कारण कि रूप वही है जो प्यारे को मोहने में समर्थ हो। (रूपके सामर्थ्य को व्यर्थ जान) पार्वती समाधि कर तप द्वारा अपने रूप को सफल बनाने चलीं। भला इसके विना ऐसी दो वातें एक साथ कैसे मिल सकती थीं कि उस तरह का प्रेम और वैसा (आपसा) पति मिले।

हे शिवजी परिपूर्ण आपमें कौन गुण पूर्ण नहीं है। जिधर से देखिये, जिस रुख देखिये आप पूर्ण हैं। आप वैरागियों के गुरु हैं तो रागियों के भी सिरमौर हैं। क्योंकि—

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः ।
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः
शेषः कामविडम्बितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ॥भर्तृ. वै. १७॥

रागियों में यदि किसी की शान निबह रही है तो केवल शिवजी की कि फिर वो अपनी प्रियतमा को अपने देहार्ध से कभी अलग ही नहीं करते । वैरागियों में एकदम स्त्रीसंग त्यागने वाला भी उनसे बढ़कर कोई नहीं । बाकी सब लोग तो अनिवार्य कामबाणरूपी सर्प के विष से व्याविद्ध और मुग्ध हो काम से विडंबित विषयसुखों को न त्याग पाते हैं न भोग पाते हैं ।

हे शिवजी यही तो आपकी सर्वतोमुखी परिपूर्णता है कि जिसे श्रुति यों वर्णन करती है ।

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषम् :—स्वस्याः पार्वत्याः यत् लावण्यं सौंदर्यातिशयः तेन या आशंसा प्रत्याशा तया निमित्तभूतया धृतं धनुः येन तम् । अर्थात् पार्वती जी के अनुपम लावण्य (नमकीनता) की आशा पर जिसने धनुष उठाई थी उस (कामदेव) को ।

अह्नाय-शीघ्रम्, फौरन । प्लुष्टं—दग्धम्, भस्मीभूत । यमनिरत-यमनियमादिषु निरतः यमनिरतः तस्य संबोधने यमनिरत-अष्टांगयोगसिद्ध ।

पुष्पायुधम्—कुसुमशरम्—काम देव को । स्त्रैणम्—नारीजनासक्तम्—स्त्री वश । अवैति—मन्यते—समझती हैं । अद्धा—युक्तमेव—ठीक ही है । बत—अव्ययं, आश्चर्ये—आश्चर्य बोधक अव्यय । मुग्धा—मूढधिय—बेसमझ ।

देहार्धघटनात्—देहस्य अर्धम् देहार्धम् तत्र घटनात् स्थापनात् देहार्धघटनात् अर्थात् अपने अर्धांग में बैठाने के कारण ।

... ...

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथाऽपि स्मर्तॄणां वरद परमं मंगलमसि ॥२४॥

अन्वय :—हे स्मरहर, हे वरद ! श्मशानेषु आक्रीडा, पिशाचाः सहचराः चिताभस्म आलेपः, नृकरोटीपरिकरः अपि स्रक् । एवम् तव अखिलम् शीलम् अमंगल्यम् भवतु नाम । तथा अपि स्मर्तॄणाम् परमम् मंगलम् असि ।

संस्कृतार्थ :—हे मदनदहन, हे ईप्सितप्रद ! त्वं शवदाहस्थानेषु रमसे । भूतैः प्रेतैः सहाटसि । शवदाहस्थं भस्म तवांगरागसाधनम् । नराणां शिरोस्थिसमूहास्तव कंठगतमाला । एवं संपूर्णं तव चरितममंगलरूपं भवतु नाम । किन्तु नो गतम् । भक्तानां तु त्वं परममंगलरूपोऽसि इत्यत्र नास्ति कोऽपि संदेहः ।

भाषार्थ :—हे कामदेव को नाश करने वाले और सब भक्तों की इच्छा पूरी करने वाले शिवजी ! श्मशानों में आप खेलते हैं । पिशाच आपके सहचर हैं । चिताभस्म आप देह में लपेटते हैं । नरकपालों को आप माला पहिनते हैं । इस तरह माना कि आपका संपूर्ण चरित अमंगलरूप सा प्रतीत होता है । परन्तु इससे हमें क्या । स्मरण करने वाले भक्तों के लिये तो आप सब भांत मंगल रूप ही हैं ।

भावार्थ :-कोटि २ वार महाकल्पों में आप द्वारा दग्ध किया हुआ यह संपूर्ण संसार आपकी दृष्टि में श्मशान नहीं तो और क्या है । भ्रमवश देहाध्यास धारण कर घूमने वाले अर्थात् वारम्वार जीने मरने वाले ये जीव पिशाच नहीं तो और क्या हैं । वारम्वार फूंकी हुई यह देह शवभस्म नहीं तो और क्या है । बड़े २ महाज्ञानियों के महालय होने पर उनकी खोपड़ियों का यदि आप भी सम्मान न करेंगे तो कौन करेगा, मानों उनको आप पढ़ते हों । खैर, बहस से क्या, मान भी लिया कि देखने को आपका चरित बहुत ही मनहूस सा है । परन्तु भक्तों के लिये तो बड़ा मंगलदायी है मानों सब जगत की अमंगलता

जमा कर आप सबके मंगल हेतु उसे नाश कर रहे हो। हे शिवजी जगत के कल्याण हेतु कालकूट पी लेने वाले आपके लिये इस भांत अमंगल वेष धारण कर जगत का मंगल साधना कुछ अपूर्व नहीं है। एक कहावत है कि प्रेम गंदे हाथों की परवाह नहीं करता। इसही तरह हे शिवजी यह आपही का अपूर्व जगत पालना प्रेम है जो श्मशानों और प्रेतों के बीच भी घूम घूम उस दुर्गम स्थितियों में फंसे हुए जीवों की भी सद्गति किया करता है। जीते, नाचते, गाते, धन, पकवान, मिठाई, चढ़ाते भक्तों की सुधि तो, हे शिवजी, सबही देवता ले सकते हैं। परन्तु मुरदोंका खयाल करना यह आपहीका काम है। कहा भी है कि 'एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽपि अनुयाति यः' अर्थात् एक धर्म ही ऐसा सुहृद है जो मरने पर भी साथ नहीं छोड़ता—बाकी सब तो जीवन का मेला है। हे शिवजी धर्म-रूप आप मरने के बाद भी साथ नहीं छोड़ते हो। धन्य हैं आप, और आपका भक्तों के हेतु यह परम त्याग। हे शिवजी ऐसा अपूर्व वेष आप भक्तों के हित हेतु ही धारण किये हैं—"ऐसो वर वेष नाथ भक्त हेतु धारे"

आक्रीडा—आरमणम्, खेलना। स्मरहर—मदनदहन। पिशाचाः—प्रेताः। सहचराः—अनुचराः। स्रक्—माला। नृकरोटीपरिकरः—नृशिरोस्थिसमूहः, नर कपालों का समूह।

... ...

श्लोकसंगति :— प्रारम्भ से लेकर अभी तक शिवजी का बहिरानुभूत सगुण ऐश्वर्य ही वर्णन किया गया है। अब इस श्लोक से अंतरानुभूत निगुर्ण पद वर्णन किया जायगा। यहां तक स्तुति का पूर्वाङ्ग हो चुका। इसके आगे उत्तरांग प्रारम्भ होता है। अभी तक परोक्षानुभूति वर्णित थी अब अपरोक्षानुभूति प्रारम्भ होती है। अभी तक कर्म उपासना और भक्तिपक्ष वर्णित था अब ज्ञानपक्ष वर्णित होता है। यदि अभी तक शरीर का वर्णन था तो अब आत्मा का वर्णन आरम्भ होता है।

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः।
यदालोक्याह्लादं हृद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५॥

अन्वय :—प्रत्यक्चित्ते मनः सविधम् अवधाय आत्तमरुतः प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः यमिनः अमृतमये ह्रदे निमज्ज्य इव यत् किम् अपि अंतस्तत्त्वम् आलोक्य आह्लादम् दधति, भवान् किल तत् (तत्त्वमसि)

संस्कृतार्थ :—अंतर्हृदये चित्तवृत्तिं विधिपूर्वकं निरुध्य नियतप्राणा आनंदभरोत्कंटकिततनूरुहा हर्षाश्रुपूर्णनेत्रा योगिनस्सुधापूर्णे सरोवरेऽवगाह्येव यत्किमप्यनिर्वचनीयं परमार्थमपरोक्षीकृत्य परमानंदमनुभवन्ति तल्लोकवेदप्रसिद्धं परमतत्वं भवानेव ।

यत्किमपि मनोवाचातीतं सच्चिदानंदात्मकं परमात्मतत्वं जितश्वासा योगिनः प्रत्यगनुभूयोत्कंटकिततनूजा हर्षोत्फुल्लनेत्रगलदश्रुबिन्दवो वर्तन्ते तस्य सुधासागर-स्नानतुल्यस्यानंदस्य काप्युपमा नास्ति । तत्प्रत्यगात्मतत्वं हि शिवतत्वं लोकवेद-प्रसिद्धम् ।

भाषार्थ :—अंतर्हृदय में मनको विधिपूर्वक एकाग्रकर, प्राणों को जीत, आनंद से उत्कंटकितरोम हो, हर्षाश्रुभरे नेत्र वाले योगी जन, मानों वे किसी अमृत-पूर्ण तालाब में स्नान सा कर रहे हों, इस भांत के जिस अनिर्वचनीय अंतःतत्व का अनुभव कर परमानन्द को धारण करते हैं, वह परं तत्व आपही हैं ।

भावार्थ :—हे शिवजी आपकी महिमा दयालुता भक्तवत्सलता और अनंत ऐश्वर्य को पढ़ और सुन अब हमारा मन संसार के तुच्छ सुख और भोगों में नहीं लगता, अब बिना आप को पाये चैन नहीं । परन्तु, हे शिवजी, आप को पाएं कहां । 'तेरा नाम जहां कि ज़बानों पर है तेरा शोर ज़माने के कानों में है । पर आंखों से देखा तो परदेनशीं कहीं तू न मिला तेरा दर न मिला' । " न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः"–श्रुति । हाय, तुमने तस्वीर तो कहीं खिचवाई-ही नहीं, वाहरे तुम्हारा लुत्फ यकताई । जिन्होंने खींचा है वे सब 'चतुर चितेरे कूर', कहे जाते हैं । ऐसी स्थिति में, हे शिवजी, जब आप कहीं मिलने ही के नहीं तो आपका यह सब वर्णन हमारे बाह्य सुखों को नाश कर केवल मात्र हमको क्या उभयपतित ही बनाने के लिये है । इस पृथिवी को तो चारों खूंट ढूढ़ा, सब तीर्थ गये, पानी पत्थर पहाड़ सब नहाये और पूजे परन्तु शुष्क श्रम के अतिरिक्त और कुछ हाथ न आया । तो अब क्या मृगव्याध तारे में पहुँचने का उद्योग करें । सुनते है वह तो हमारे सूर्यमंडल से बहुत परे कोई दूसरी सृष्टि ही है । वहां

तो सूर्य का प्रकाश भी नहीं पहुँचता—'न तत्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। भला, ऐसे सूर्याग्नि के प्रकाश की पहुँच के बाहर हमारा यह दो मन का माटी का धोंधा कैसे पहुँच सकता है। हे शिवजी इससे तो यही सिद्ध होता है कि या तो आप शशशृंगन्यायवत् केवल मात्र एक विकल्प या गौगा हो कि जिसके भ्रमफंद से जगत निकल नहीं पाता और यातो फिर हमारी यह बहिर्मुख दौड़ आप के पाने की पर्याप्त विधि ही नहीं है। हे शिवजी आप के परंभक्त पुष्पदन्त जी तो कहते हैं कि पहिली बात गलत और दूसरी ही ठीक है, अर्थात् आप बहिर्दृष्टि से अनुभव या प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं हो। आपको पाने के लिये भक्त को अंतर्मुख होना चाहिये। तो कैसे होना चाहिये ? उसकी विधि भी कृपापूर्वक इस श्लोक में देते हैं। इस पर तो पतंजलिजी ने एक शास्त्र ही रच डाला है जिसे योग शास्त्र कहते हैं परन्तु स्तुति को सर्वांगपूर्ण करने के लिये उसका सार एकही श्लोक में वर्णन करते हैं।

हे शिवजी ! सुना है कि मनके जीतने से प्राण और प्राण के जीतने से मन जित जाता है, कारण कि दोनों एकही तने की दो प्रधान शाखें हैं। मन जीत प्राणवश करना यह राजयोग वेदान्त विधि है और प्राण जीत मन वश करना यह हठयोग विधि है। पूर्वविधि बहुतों के लिये स्वभाव ही से अगम्य है परन्तु उत्तर विधि निरंतर परिश्रम द्वारा सब साध सकते हैं। अतएव इसे सर्वसाधारण मार्ग कह सकते हैं। इसही योग विधि का गुरूपदेश ले, यमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधि नामक इसके आठो अंग सिद्ध कर, और इसके द्वारा प्राणों को रोक और जितप्राणों से पराजित मनको, मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरक नामक तीन चक्रों से ऊपर हृदयदेशस्थ अनाहतचक्र में निरुद्ध कर, योगीजन जिस अपूर्व तत्व को अपरोक्षरूप से अनुभव करते हैं कि जिसको अनुभव कर उन्हें जो परमानन्द प्राप्त होता है उसकी उपमा सुधासागर स्नान सुखसे भी देना अत्यन्त तुच्छ है, वह सच्चिदानन्दात्मक परंतत्व आपही हैं। हे शिवजी, यह परंतत्व बहिर्दृष्टि कुयोगियों को त्रिकाल में दुर्दर्श होने पर भी अंतर्मुख भक्तों को सुलभ ही कहा जा सकता है। इस भांत हे शिवजी आप सर्वजीवानुभवगम्य सर्वसुलभ तत्व हैं और सर्वसुलभ होते हुये भी परमानंद हैं। "अस प्रभु अछत हृदय अविकारी सकल जीव जड़ होंहि दुखारी"। हे शिव जी अब आप कृपा कर अपनी इस जीव को जड़ बनाने वाली माया को हर अपना दर्शन दीजिये। "जानेहु तबहिं जीव जड़ जागा। जब सब विषय

विलास विरागा"। यहही अंतर्मुखता की प्रथम सीढ़ी है जो आपकी अनुग्रह वश जीवों को दिखाई पड़ती है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'। इत्यादि॥

मन :—चित्तवृत्तिः—मनोवृत्तियां, जो योगशास्त्र में प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति नाम से पांच कही गई हैं।

प्रत्यक्चित्त :—अंतर्हृदये अनाहतचक्रे वा। हृदयदेश में धारणाद्वारा। 'देशबंधश्चित्तस्य धारणा'। अर्थात् किसी बाहिरी, जैसे चंद्रसूर्य या काला दाग आदि, या भीतरी जैसे मूलाधारादि षट्चक्रादि में ही मन को बांध रखना और उससे बाहर न जाने देने का नाम धारणा है।

सविधम् :- विधिपूर्वकम् गुरूपदेशद्वारेण वा। विधानपूर्वक गुरु के उपदेशद्वारा न कि किसी से सुनकर या केवल पुस्तकों को सामने रखकर।

आत्तमरुत :—आत्ता धृता वशीकृताः पूरकरेचककुंभकनामकप्राणायामविधिद्वारेण मरुतः प्राणाः येषाम् ते आत्तमरुतः। अर्थात् जिन्होंने पूरकरेचक कुभंकादि प्राणायाम की विधियों द्वारा प्राणवायुओं को वश कर लिया है।

अवधाय :—निरुध्य, वृत्तिशून्यं कृत्वा। मनको वृत्ति शून्य कर।

प्रहृष्यद्रोमाणः :—प्रहृष्यन्ति हर्षोत्कंटकितानि रोमाणि तनूरुहाः येषाम् ते, प्रहृष्यद्रोमाणः प्रकर्षेण पुलकितांगाः। अर्थात् जिनके आनन्द के मारे सर्वांग के रोएं खड़े हो रहे हैं।

प्रमदसलिलोत्संगितदृश :—प्रमेदन हर्षातिशयेन यत् सलिलं अश्रूणि तैः उत्संगिते परिपूर्णे दृशौ यस्य स प्रमदसलिलोत्संगितदृक् ते प्रमदसलिलोत्संगितदृशः। अर्थात् आनंदाश्रु जिनकी आँखों में भरे हैं। ये सब अंतरानंद के बहिर्लक्षण दिखाये।

दधति :—पूर्वं विद्यमानमेव धारयन्ति न तु प्रयत्नेन किमप्यपूर्वमुत्पादयन्ति, नित्यत्वादेव तत्वस्य। अर्थात् अपने में पूर्व से विद्यमान सुख ही को भूले हुये कंठगत माला की भांत अनुभव करते हैं; कोई नया अपूर्व चमत्कार नहीं साधते।

किल :—इति प्रसिद्धौ। लोके ईश्वर इति नाम्ना प्रसिद्ध' वेदे, 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्', 'एष एव परमानन्दः', 'यो वै भूमा तत्सुखं' इत्यादि वाक्यैः प्रसिद्धं तत्वम्। किल प्रसिद्धि अर्थ में व्यवहार होने वाला अव्यय है।

ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये :—सुधापूर्णे सरसीव स्नात्वा,—"धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः। वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः" ॥ (पंचदशी १-६०)। अर्थात् मानों सुधातड़ाग में स्नान कर रहे हों जैसा कि कहा है, योग विशारदजन इसको धर्ममेघ समाधि इस कारण कहते हैं कि इसमें हजारों ओर से फूट फूट कर धर्ममय अमृतकी धारायें वरसती हैं। जहां कि एक क्षण का सुख सैकड़ों यज्ञ करने से प्राप्त सुख से कहीं बढ़कर है। "क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि" इति श्रुतेः।

... ...

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह–
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमितिच।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु* गिरं
न विद्मस्तत्तत्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥२६॥

अन्वय :—अर्कः त्वम्, सोमः त्वम्, पवनः त्वम्, हुतवहः त्वम्, आपः त्वम्, उ व्योम त्वम्, धरणिः त्वम्, आत्मा (त्वम्), असि इति च एवम् परिच्छिन्नाम् गिरम् परिणताः त्वयि बिभ्रतु। वयम् तु तत् तत्त्वम् न विद्मः यत् इह त्वम् न भवसि। [त्वम् अर्कः, त्वम्सोम इत्यप्यन्वयो न दोषाय]

संस्कृतार्थ :—त्वद्विषये परमार्थविशारदा जनास्त्वां चंद्रसूर्यपृथिवीजलतेजोवायुनभःक्षेत्रज्ञेति भिन्नोपाधिभिर्वर्णयन्तु नाम। वयं तु तत्तत्त्वं न उपलभामहे यत्त्वं परमार्थतो न भवसि।

---

*बिभ्रति इत्यपि पाठांतरो लभ्यते।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तीति श्रुत्यनुसारेण त्वद्विषयकाप्तजनास्त्वां भिन्नरूपैरनेकनामभिः पूजयन्तु स्तुवन्तु वा नाम। नास्माकं कापि हानिः। वयं त्वैद्वतस्वभावत्वात्त्वां सर्वात्मकमेव, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति भावेन गृह्णीमो नास्त्यत्र स्वल्पोऽपि संदेहः।

भाषार्थ :—आप सूर्य (ही) हैं, आप चंद्रमा (ही) हैं, आप पवन (ही) हैं, आप अग्नि (ही) हैं, आप जल (ही) हैं, आप आकाश (ही) हैं, आप पृथिवी (ही) हैं, आप क्षेत्रज्ञ (ही) हैं, इस भांत परिच्छिन्न वाणी द्वारा आपको कुछ आप्त पुरुष वर्णन करें, (हम मना नहीं करते) परन्तु (यदि हमसे पूंछिये तो) हमतो इस जगत में ऐसा कोई तत्व नहीं जानते जो वास्तव में आप नहों।

भावार्थ :—हे शिवजी! जो लोग आप को आपकी भिन्न भिन्न उपाधियों द्वारा अर्थात् चंद्र, सूर्य, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश क्षेत्रज्ञादि अनेकों नामों द्वारा याद करते हैं, वे भी आप्त पुरुष हैं और अनन्तकाल तक आप के विषय में चिंतन कर परिपक्व बुद्धि होने ही पर वे ऐसे निर्णय को पहुँचे हैं इसमें भी कोई संदेह नहीं। हमारा उनसे न कोई झगड़ा है न वे हमारी कोई हानि ही करते हैं। परन्तु हे शिवजी अद्वैत स्वभाव रखने के कारण इन भेदवादियों की प्रशंसा विधि अपने अनुकूल नहीं पड़ती। इसलिये हम लोग तो हे शिवजी! आपको सर्वात्मक और सर्वांतर्यामी रूप ही से आराधते हैं। नानात्व को आपके स्मरण हेतु भी याद नहीं करना चाहते।

अर्कः—सूर्यः, सूर्य भगवान। सोमः—चंद्रः, चंद्रमा। पवनः—वायुः। हुतवह—अग्निः। आपः—जलं। व्योम—आकाशः। धरणिः—पृथिवी। आत्मा—जीवात्मा। परिच्छिन्नां—देशकालवस्तुभेदव्यवच्छिन्नां अर्थात् देशकाल वस्तु से बंटी हुई।

परिणताः—परिपक्वबुद्धयः अधिगतसिद्धान्ताः आचार्याः आप्तपुरुषाः अर्थात् भिन्न भिन्न संप्रदायों के आचार्य लोग कि जिन्होंने आपही की चिंता में बाल पकाये हैं।

... ...

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥२७॥

अन्वय :–(हे) शरणद ! त्रिभिः अकाराद्यैः वर्णैः, त्रयीम्, तिस्रः वृत्तीः, त्रिभुवनम्, अथो अपि त्रीन् सुरान् अभिदधत्, अणुभिः ध्वनिभिः तीर्णविकृति ते तुरीयम् धाम अवरुन्धानम् ॐ इति पदम् त्वाम् व्यस्तम् समस्तम् गृणाति ।

संस्कृतार्थ :—हे शरण्यदेवाधिदेव ! अकारोकारमकारैस्त्रिभिरक्षरैः ऋग्यजुः-सामेति वेदत्रयीं, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तय इति तिस्रोऽन्तःकरणावस्थाः, भूर्भुवःस्वरिति त्रीन् लोकानथच ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इति त्रीन्सुरान्प्रतिपादयत्, अतिसूक्ष्मैरणुतोऽप्यणुतरैरुच्चारणादिध्वनिभिर्विगताखिलविकारं शुद्धातिशुद्धमेकरसं तव तुरीयं धाम प्रापयत् ॐ इति पदं तव सप्रपंचं निष्प्रपंचं च रूपमभिधत्ते ।

अ, उ, म् इति त्रीण्यक्षराणि ॐ पदस्यावयवशक्तयः, ॐ इति प्रणवस्य समुदायशक्तिः । अकारोकारमकाराख्यपदत्रयकर्मधारयसमासनिष्पन्नमपि ॐ इति पदं न च वाक्यम् । "तस्य (ईश्वरस्य) वाचकः प्रणवः" । तस्येश्वरस्य द्वे रूपे, निष्प्रपंचं सप्रपंचं च । निष्प्रपंचं तुरीयं धाम, "न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमस्मम" । तुरीयरूपमेव निर्गुणं विकारातीतं शुद्धं ब्रह्माख्यपदं समस्तमित्यत्रकथ्यते । सप्रपंचमेव त्रिगुणं सषोड़शविकारं शबलं ब्रह्म मायिकपदम् व्यसतमिति । ॐ पदं स्वावयवशक्तिभिः शबलं, स्वसमुदायशक्त्या शुद्धं ब्रह्म प्रतिपादयति । एवं प्रणवस्यैवोपाख्यानभूतमिदं सर्वं भूत भव्यं वर्तमानं च । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" ॥ "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥ "एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालम्बनम् परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्म लोके महीयते" ॥ कठोपनिषद् ॥ ॐ पदस्य महती व्याख्या छान्दोग्योपनिषदि अन्वेष्टव्या ।

भाषार्थ :—हे शरण देने वाले शिवजी ! अकारादि तीनों वर्णों से वेदत्रयी को, तीनों वृत्तियों को, तीनों लोकों को, तीनों देवों को, कहता हुवा और अपनी सूक्ष्म ध्वनियों से आपके निर्विकार तुरीय धाम को घेरता हुवा यह ॐ पद समस्त व्यस्त (अर्थात् समस्त और व्यस्त रूप से) आपको ही वर्णन करता है।

भावार्थ :—हे शिवजी ! ऐसे तो आपके सहस्रों नाम हैं परंतु वे सब नाम आपके किसी गुण विशेष, भाव विशेष, या चरित विशेष, या आपको प्राप्त करने की किसी अध्यात्मक्रिया विशेष के ही द्योतक हैं। हे शिवजी आपका कोई ऐसा नाम जो आप ही के तुल्य व्यष्टि और समष्टि में एक रस कार्यकर हो ॐ को छोड़ दूसरा नहीं। इसकी महिमा गाते गाते सब वेद भी थके जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् तो मानो ॐ की महिमा वर्णन करने ही को बनाया गया है। और अन्य उपनिषद् भी इस ॐ पद की अनिर्वचनीय महिमा यथा शक्ति वर्णन करते हैं। ॐ पद अ, उ, म् इन तीन अक्षरों से बना है। ये तीनों अक्षर इसकी अवयव शक्ति हैं। अवयवरूप से ॐ जगत के संपूर्ण त्रिगुण पदार्थों का वाचक है। समुदायरूप से ॐ दीर्घ और प्लुत उच्चारणों को प्राप्त होता हुवा संपूर्ण निर्गुण शुद्ध तुरीयपाद ब्रह्म तक पहुँचाता है। ये सब रहस्य गुरुमुख से ही वेदनीय हैं। इस भांत ॐ पद समष्टि और व्यष्टि रूप से संपूर्ण चतुष्पाद ब्रह्म और आत्मा का बोध देता हुवा साक्षात् शब्द ब्रह्म ही है।

संपूर्ण सृष्टि पंचभूत है। सब पंचभूत आकाश का परिणाम हैं। आकाश शब्द रूप है। शब्द स्वर और व्यंजनात्मक अक्षरों से बने हैं। संपूर्णाक्षर अ उ म् में प्रविष्ट हैं। अ आदि स्वर, उ स्वरों की अत्यन्तोच्चावस्था और म् संपूर्ण कवर्गादि व्यंजनों का अंत है। इस भांत अ उ म् में संपूर्ण अक्षरों का समावेश है। ॐ पद व्यष्टि रूप से इस भांत संपूर्ण सृष्टि का रस है। समष्टि रूप से ॐ की ध्वनि ही प्लुतादि उच्च स्वरों से गूंजती हुई तुरीयपाद ब्रह्म तक पहुँचाती है। मुख्यतः अ से कौन वेद, कौन अवस्था, कौन लोक कौन देव कौन गुणादि की सूचना मिलती है और इसही भांति उ और म् काहे काहे के सूचक हैं यह अतिविस्तृत विषय होने के कारण यहां दिया नहीं जा सका।

त्रयीं :—वेदत्रयीम् अर्थात् ऋग् यजुर् और सामवेद।

तिस्रो वृत्तीः :—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः अंतःकरणावस्थाःताः । अर्थात् जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाएं उन को ।

त्रिभुवनम् :—भूर्भुवःस्वरिति–पृथिवी अंतरिक्ष और स्वर्ग को ।

त्रीन् सुरान् :—ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यान्–ब्रह्मा विष्णु और महेश को ।

अकाराद्यैः :-अकारः आदौ येषाम् तैः । अकारोकारमकाराः इति । अर्थात् अ. उ और म्. इत्यादि द्वारा ।

अभिदधत् :—प्रतिपादयत्—कहते हुये, प्रतिपादन करते हुए ।

तीर्णविकृति :—तीर्णाः विकृतयः (विशिष्टाः कृतयः) यस्मात् तत् अर्थात् विकारों से परे निर्विकार ।

तुरीयं :—त्रयावस्थातीतं त्रिगुणातीतमिति—चतुर्थ या त्रिगुणातीत ।

ते धाम् :—राहोः शिर इतिवत् षष्ठी । आपका धाम से तातपर्य आपसे भिन्न धाम से नहीं है जैसा कि राम के घर का अर्थ होता है । वरन् यहां राहु का शिर की भांत अर्थ लेना होगा अर्थात् जैसे राहुजी शिर रूप ही है इस भांत धामस्वरूप आप ऐसा अर्थ होगा ।

अणुभिः ध्वनिभि :—सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमैः उच्चारणैः । सूक्ष्मध्वनियों से । जो सामवेद के गाने वाले हैं वे उन्हे जानते हैं । ध्वनियों के सांगीत शास्त्रानुसार अनेक भेद होने के कारण बहुवचन प्रयोग किया गया है ।

अवरुन्धानम् :—प्रापयत् । पहुँचाती हुई, पकड़ती हुई, घेरती हुई ॐ पद की ध्वनि । पद का विशेषण है ।

समस्तं :—समष्टिरूपम् निष्प्रपंचम्—समष्टिरूप से निगुर्ण शुद्ध ।

व्यस्तं :—सप्रपंचम् सगुणम्–व्यष्टिरूप, सगुणरूप ।

गृणाति :—अभिधत्ते, वर्णयति—कथन करता है, सूचित करता है ।

... ...

श्लोकसंगति :—ॐ ईश्वर का मुख्य नाम होने पर भी वेदस्वरूप होने के कारण स्त्रीशूद्रादिकों को उपदेश करने योग्य या उनके द्वारा जपे जाने योग्य नहीं है अतएव शिवजी के वे नाम जो अबाधित रूप से सबके व्यवहार योग्य हैं उन्हें गिनाते हैं।

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने *प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ॥२८॥

अन्वय :—भवः शर्वः रुद्रः पशुपतिः अथ उग्रः सहमहान् तथा भीमेशानौ इति, (हे) देव इदम् यत् अभिधानाष्टकम् अमुष्मिन् प्रत्येकम् अपि श्रुतिः प्रविचरति, धाम्ने अस्मै प्रियाय भवते प्रविहितनमस्यः अस्मि।

संस्कृतार्थ :—भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरुग्रो महादेवो भीम ईशान इति यन्नामाष्टकममुष्मिन्नेकैकस्मिन्नाम्नि वेदार्थोऽपि प्रकर्षेण निवसति। अस्मै सर्वशरण्याय दयिताय भवते मनोवाक्सहितं साष्टांगं नमस्करोमि।

उपर्युक्तनामाष्टकमध्यगतैकैकनाम्नि वेदार्थनिष्कर्षोऽपि लभ्यतेऽतएव परमप्रियाय शरणदाय चिद्रूपाय भवते सहस्रकृत्वो नमोनमः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमः पुरस्तात्पृष्ठतोऽथ नमोनमः।

(१) भव इति—'रुद्रो भवो भवः कामो भवः संसारसागरः' इति देवीपुराणे निर्वचनाध्याये। यद्वा जलमूर्तेः परमेश्वरस्य भव इति संज्ञा। तदुक्तं लिंगपुराणे "भव इत्युच्यते देवैर्भगवान्वेदवादिभिः। संजीवनेन लोकानां भवस्य परमात्मनः॥ उषा संकीर्तिता भार्या सुतः शुक्रश्च सूरिभिरिति"। वायुपुराणेऽपि "भवस्य या द्वितीया तु तनूरापः स्मृतेति वै। तस्योषानामिका पत्नी पुत्रश्चाप्युशना स्मृत" इति॥ भवशब्दनिष्पत्तिरपि तत्रैव "यस्माद्भवन्ति भूतानि ताभ्यस्ता भावयन्ति च। भवनाद्भावनाच्चैव भूतानां स भवः स्मृत" इति। अत्र ताभ्य इत्यस्याद्भ्य इत्यर्थः।

*प्रणिहितेति पाठान्तरः।

(२) शर्व इति—क्षितिमूर्तेः परमशिवस्य शर्व इति संज्ञा । तदुक्तं लिंगपुराणे 'चराचराणां भूतानां धाता विश्वंभरात्मकः । शर्व इत्युच्यते देवः सर्वशास्त्रार्थपारगैः ॥ विश्वंभरात्मनस्तस्य शर्वस्य परमेष्ठिनः । सुकेशी कथ्यते पत्नी तनुजोऽङ्गारकः स्मृत' इति । वायुपुराणेऽपि 'शर्वस्य या तृतीया तु नाम भूमितनुः स्मृता । पत्नी तस्य सुकेशीति पुत्रश्चांगारको मत' इति । शर्म सुखं दातुं शीलमस्य इति शर्वः ।

(३) रुद्र इति—रुजं द्रावयतीति वा रोदयतीति वा रुद्रः । संवर्तकालीनाया वृष्टेरेतत्सूर्याख्यनेत्रजन्यत्वेनाश्रुरूपत्वात् । 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति श्रुतेः । 'रुजं द्रावयते तस्माद्रुद्रः पशुपतिः स्मृत' इति शिवरहस्याच्च । प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्तीति छान्दोग्योपनिषदि । 'तुष्टयर्थं ब्रह्मणः पुत्रो ललाटादुत्थितः स्वयम् । अरुदत्सुस्वरं घोरं जगतः प्रभुरव्ययः, इति महाभारते । वायवीयसंहितायां तु 'रुद्दुःखं दुःखहेतुर्वा तद्द्रावयति यः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परमकारणः' । संहारकाले प्रजाः संहरन्रोदयतीति रुद्रः । रुतं राति ददाति वा रुद्रः ।

(४) पशुपतिरिति— पशूनां जीवानां पतिः स्वामी प्रभुरीश्वरो वा पशुपतिरितिसंज्ञा । पशुः कः जीव इति । पश्यते बध्यते अनेन इति पाशः रज्जुः । पाशबद्धः पशुरिति, सर्वमविशेषेणाविवेकेन पश्यति पशुरिति । अभेदज्ञानरूपविद्याविहीना जनाः पशवः । तदुक्तं बृहदारण्यके 'योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरिति' । अशनापिपासाभ्यां पाशरूपाभ्यां बद्धः पशुरिति । तथा च श्रूयते 'अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिज्ञानं, न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति, न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकाविति' ।

अथवा ब्रह्मादिस्थावरान्ताः पशुसमानधर्मत्वात्पशवः तेषां बंधनसाधनत्वादविद्यैव पाशः । उक्तञ्च, 'सर्वाधारतयाधारः पाशो बंधस्य हेतुत' इति । तदुक्तं लिंगपुराणे, 'ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः । पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः ॥ चतुर्विंशति तत्त्वानि मायाकर्मगुणा इति । विषया अपि कीर्त्यन्ते पाश जीवनिबन्धनात् ॥ तैर्बद्धाः शिवभक्त्यैव मुच्यन्ते सर्वदेहिन' इति ।

तदिदमुक्तं लिंगपुराणे 'अविद्यामस्मितां रागं द्वेषं च द्विपदां वर । वदन्त्यभिनिवेशं च क्लेशान्पाशत्वमागतान् ॥ "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः",

"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्",-योगसूत्रे। एते च क्लेशा वैषयिकयोगितत्वज्ञरूपत्रिविधपशुत्वात्त्रिविधास्तान्तान्प्रतिविलक्षणाश्च । तदुक्तं देवीभागवते, 'प्रसुप्तास्तत्त्ववेत्तॄणां दग्धदेहास्तु योगिनाम्। अविच्छिन्नोदाररूपाः क्लेशा विषयसंगिनामिति। एवं कुलार्णवे 'घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पंचमी। कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥ तदुक्तं शिवरहस्ये 'पञ्चक्लेशैर्द्विपञ्चाशत्पाशैर्बध्नाति यः पशून्। स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः" ॥ स एव पशुपतिः पशुपाशमोक्षणात्।

अथवा अणुर्भेदः कर्म चेति त्रयः पाशाः। तत्राज्ञानमणुः। एवंभूतेषु त्रिषु पाशेष्वेकेन द्वाभ्यां त्रिभिरपि बन्धप्रयुक्ता जीवा अपि त्रिविधाः पशुपदेनोच्यन्ते। तथाचोक्तं 'पशवस्त्रिप्रकाराः स्युस्तेष्वेके सकला मताः। प्रलयाकलनामानस्तेषां केचिन्महेश्वरि। विज्ञानकेवलास्त्वन्ये तेषां रूपं क्रमाच्छृणु"। तेषु त्रिभिरपि पाशैर्बद्धः सकलः। तदुक्तं 'अनादिमलसंच्छन्नो मायाकर्मावृतो विभुः। शरीरशिवतत्त्वज्ञो भेदैकरसिको लघुः ॥ सर्वदा कर्मकर्ता च स्वकर्मफलभोजकः। नित्य विषयसंरक्तः सकलः पशुरुच्यते,॥ एते च सकलाः पशवो मलपाकापाकाभ्यां द्विविधाः। ये पक्वमलास्ते सिद्धाः मंत्रेश्वरतामाप्ताः वर्तन्ते। अपरिपक्वमलांस्त्रीन्मलपाकाय शिवो हि नानायोनिषु विनियुंक्ते। एवमन्येषामपि पशूनां गत्यैश्वर्यतारतम्यं वर्तते। विस्तरभयादत्र नो लिख्यते ।

(५) उग्र इति—सूर्यादीनामपि भयहेतुत्वादुग्रः, भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः इति श्रुतेः।

(६) सहमहान् इति—महता महच्छब्देन सह वर्तते इति सहमहान्, महादेवः। "सर्वान्भावान्परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महादेवः" इति श्रुतेः।

(७) भीम इति—बिभेत्यस्मात्सर्वमिति भीमः। 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इति मंत्रवर्णात्।

(८) ईशान इति—सर्वभूतनियन्तृत्वादीशानः।

भाषार्थ :—हे शिवजी! भव शर्व रुद्र पशुपति उग्र महादेव भीम और ईशान-ये जो आपके आठ नाम हैं इनमें से प्रत्येक में श्रुति भगवती विचरण कर

रहीं हैं। ऐसे परमधामस्वरूप अत्यन्त प्रिय आपको मैं मनोवाककायसहित नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :—हे शिवजी! संपूर्ण जड़ जगत को जीवन दान कर आपने चेतन किया है। जड़ में चेतन प्रवेश ही नाम सृष्टि रचना है अतएव हे शिवजी इस भवसागर को उत्पन्न करने वाले आपका नाम भव है। पृथिवी रूप धारण कर हे शिवजी आप संपूर्ण जगत का पालन पोषण करते हो अतएव आपका नाम शर्व है। हे शिवजी आप अपने भक्तों के सर्व रोग दारिद्रय दूर कर देते हो इस लिये आप रुद्र हो। अनेक भांति की संसार फांस में फंसे हुए जीवों के स्वामी और गति होने के कारण हे शिवजी आप पशुपति कहे जाते हो। सर्व देवताओं के भी देवाधिदेव होने के कारण हे शिवजी आप महादेव हो। सूर्यादि महान देवता भी आप से डर कर ही चमकते पानी बरसाते और हवा चलाते हैं अतएव सबके भय रूप आप का उग्र नाम उचित ही है। आपसे सब भय खाते हैं, काल भी आपसे डरता है अतएव आप ही सच्चे भीम हैं। तृण से ब्रह्म पर्यन्त सब पदार्थ आपकी सत्ता और शासन में चलते हैं अतएव आपही ईशान हो। इस भांत हे शिवजी आप के इन प्रत्येक नामों में श्रुतियों का सार भरा पड़ा है। आत्मा होने के कारण परम प्रिय और परमगति देने के कारण परमधामरूप आप को भीतर बाहर सब भांति नमस्कार करता हूँ कारण कि ईश्वर को जीव नमस्कार के अतिरिक्त और दे ही क्या सकता है। नम इति ते उक्तिम् विधेम्।

भीमेशानौ :—भीमश्च ईशानश्च तौ भीमेशानौ अर्थात् भीम और ईशान।

अभिधानाष्टकम् :—अभिधानानाम् अष्टकम् अभिधानाष्टकम् अष्ट नामानि, अर्थात् आठ नाम।

प्रत्येकम् :—एकैकम् प्रति प्रत्येकम्—हर एक एक में।

प्रविचरति :—प्रकर्षेण विचरति सावधानतया वर्तते, सावधानता से निवास कर रही है।

प्रविहितनमस्यः :—प्रविहिता सम्यग्विधिना कृता नमस्या, नमस्कार-क्रिया येन सः तादृशः अर्थात् अच्छी तरह नमस्कार करता हूँ

श्लोकसंगति :—पूर्व के श्लोक में जिस नमन भाव का प्रारंभ किया है उस भाव को इस श्लोक में विस्तारपूर्वक सकारण वर्णन करते हैं।

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः ॥२९॥

अन्वय :—(हे) प्रियदव ! (तुभ्यम्) नेदिष्ठाय दविष्ठाय च नमो नमः; (हे) स्मरहर ! क्षोदिष्ठाय महिष्ठाय च (तुभ्यम्) नमो नमः (हे) त्रिनयन ! वर्षिष्ठाय यविष्ठाय च (तुभ्यम्) नमोनमः; सर्वस्मै ते नमः; तदिदमितिसर्वाय च नमः।

संस्कृतार्थ :—हे विपिनविहारिन् ! संनिकटतमाय दूरतमवर्तिने च तुभ्यं नमोनमः; हे मदनदहन ! क्षुद्रतमाय महत्तमाय च तुभ्यं नमोनमः; हे त्रिनेत्र ! वृद्धतमाय युवतमाय च तुभ्यं नमोनमः; सर्वरूपाय ते नमः, सर्वाधिष्ठानभूताय च ते नमः।

हे निर्जनवनविहरणशील ! त्वमेव प्रत्यगात्मत्वात्सर्वभूतानां सन्निकटतमोऽसि; मनोवाण्यगम्येश्वरभूतत्वात्त्वमेव भूतानां दूरतमवर्ती चाप्यसि। हे कामान्तक ! आब्रह्मस्तंबपर्यन्तं सर्वं व्याप्य स्थितत्वात्त्वमेव क्षुद्रतमकीटाणुस्त्वमेव महत्तम-ब्रह्मापि चासि। हे अयुग्मनेत्र ! अनेककोटियुगधारिंस्त्वमेव वृद्धतमो; नित्यनूतन-सृष्टिचमत्कारिंस्त्वमेव युवतमो, दिने दिने नवो नवश्च। एवं सृष्टिवैचित्र्यरूपं त्वां नमस्करोमि। विगतसृष्टिगतसर्वविकारं सर्वाधिष्ठानभूतञ्च त्वां नमामीति।

ब्रह्मणोऽत्यन्तविरुद्धस्वभावस्यप्रदर्शनायैवं श्रुतयो व्याहरन्ति, 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'॥ 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च'; 'अणोरणीयान्महतोमहीयान्'; 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दंण्डेनाञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः, इति।

भाषार्थ :— हे विपिनप्रिय ! सबसे निकटतम और सबसे दूरतम आप को वारंवार प्रणाम है। हे कामारि ! छोटे से छोटे और बड़े से बड़े आपको वारंवार नमस्कार है। हे विषमनयन ! सबसे अधिक पुराने और सबसे अधिक नवीन (सबसे अधिक वृद्ध और सबसे अधिक युवा) आपको वार वार नमन करता हूँ। सर्वरूप आपको नमस्कार करता हूँ। सर्वरूप जिसमें है ऐसे आपको नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :— हे शिवजी ! 'अरतिः जनसंसदि' यह एक ज्ञान का लक्षण है, फिर भला आप तो ज्ञानस्वरूप ही हो। आपको नगरवास क्यों प्रिय होने लगा। इसही लिये हे शिवजी आप हिमालय के एकान्त निर्जनवनों में विहरते हो और पशुपक्षियों के लिये भी अगम्य कैलासपर्वत की चोटियों पर वसते हो। हे शिवजी ! संसार में तो भाई बन्धु ही निकटतर और निकटतम संबन्धी माने जाते हैं तो फिर क्या उनसे भी, पत्नी पुत्र से भी, निकटतम कोई अन्य है ? यदि है तो वह हमारी आत्मा ही है क्योंकि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' ऐसा श्रुति कहती है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि परंप्रिय छौने को भी बंदरिया आवश्यकता पड़ने पर चूतड़ तले दबा लेती है। उदरशांति के लिये बच्चे बेंच डाले जाते हैं। सम्मान रक्षा के लिये नवजातशिशु त्याग दिये जाते हैं। तब हे शिवजी ! ऐसे परंप्रिय पदार्थ तो हमहीं ठहरे और जो परंप्रिय है वही निकटतम भी है। परन्तु हे शिवजी ! हमें यह संदेह बराबर बना रहता है कि ऐसे परंप्रिय पदार्थ हम वास्तव में हैं क्या ? हम कभी अपने को स्थूल शरीर कभी प्राण, कभी मन और कभी बुद्धि आदि समझा करते हैं। हम निकटतम हैं और ये सब कोष एक दूसरे से दूर है अतएव कभी इन्हें और कभी उन्हें मानने के कारण हमें बहुधा अपनी निकटतमता के विषय में भी संदेह होने लगता है। तो हे शिवजी इस संदेह का कि जिसने सब खेल माटी कर रक्खा है इस भांत समाधान क्यों न कर लें कि हम आप हैं और आपही निकटतम और प्रियतम हैं। परन्तु ऐसा मानने में भारी बाधा यह आन पड़ती है कि आप तो दूरातिदूर सूर्य ध्रुव से भी परे, मन वाणी से अगम परंतत्व हो सो हमारे हृदय के अन्दर कैसे घुसकर बैठ सकते हो। 'ब्रह्माण्डनिकाया निर्मित-माया रोमरोम प्रति वेद कहै, सो मम उरवासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै"। परन्तु हे शिवजी यदि देशकालभाव मनोऽध्यस्त और मनोविकार-

मात्र हो तो ऐसा भी हो सकता है। इस देशकाल की बाधा को आज हम दूर कर आपही को भीतर बाहर मान, आपही को आत्मा परमात्मा जान, आज हम अभेद भाव से प्रणाम करते हैं अनेक वार प्रणाम करते हैं, इन्हें आप ग्रहण करें। भला जब आप प्रणाम करने वाले और आपही प्रणाम ग्रहण करने वाले हैं तो ऐसे प्रणाम व्यर्थ कैसे जा सकते हैं।।

अच्छा तो ब्रह्मादि जो सृष्टिकर्ता हैं उनके भीतर बाहर आप ही होंगे। परन्तु हम जो एक क्षुद्रातिक्षुद्र जीव हैं हमारे भीतर बाहर आपका होना आपकी शान के खिलाफ है। परन्तु यदि हमारे भीतर बाहर आप नहीं हैं तो क्षुद्र होने पर भी आप की सत्ता से परे हम अपने आप एक छोटे खोदा सिद्ध होते हैं। और यदि कहीं ऐसा हो तो अगणित कीटाणुओं तक छोटे छोटे खुदाओं की तो गणना भी नहीं की जा सकती। तो क्या ऐसा होना आपको शान के मुताबिक होगा? नहीं, न वह, न यह। क्षुद्रता महत्ता ये दोनों मायाकल्पितांश है। इन्हें त्याग जो बचता है वह आपका सतस्वरूप है। क्षुद्र से क्षुद्र होना और बड़े से बड़ा होना यह तो माया का कार्य है और आप मायाधीश मायिन् हो। अतएव यह सब आप का कार्य है। कारण कार्य में वास्तविक भेद होता नहीं अतएव हे शिवजी छोटे से छोटे और बड़े से बड़े आपही हो। और इस भांत, आज तक जहां जिसको जिस भाव से नमस्कार किया, करते हैं और करेंगे वह सब आपही को पहुँचा और पहुँचेगा। सर्वदेवनमस्कारो केशवंप्रति गच्छति'।

अच्छा भीतर बाहर, छोटे बड़े आपही सही। परंतु संखातिसंख युगों से बराबर दौड़ लगाये चले आते हुए आप होंगे वास्तव में बड़े ही जीर्ण और जर्जर। अतएव आपको दूर ही से नमस्कार है। या संभव है कि अब आपका केवल नाम मात्र ही शेष रह गया हो और आप न जाने कब के चल बसे हों क्योंकि बूढ़े से बूढ़े मर चुके फिर आप तो सबसे बूढ़े हैं। आपके जीवित होने की आशा दुराशा नहीं तो और क्या है। 'देखना हो हुस्न का जलवा तो बुतखाने में आ, तेरे क़ाबे में ओ वायज बस खोदा का नाम है'। अच्छा यदि ऐसा है तो ये संपूर्ण ग्रहनक्षत्र पुष्पवत् आकाश से ढह क्यों नहीं पड़ते। ऐसा न होकर आज भी नित्यनूतन सृष्टि हुवा करती है, पानी बरसता है, हरियाली होती है, फल लगते हैं, युवा स्त्री पुरुष अठलाते चारों ओर आनन्द किल्लोल कर रहे हैं। यह सब तो सृष्टि कर्ता के जीर्ण जर्जरता के प्रमाण न होकर वरन् उसके नित्य-

नूतन युवत्व ही का उद्‌घोषण करते हैं। 'दिने दिने यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः'। इससे सदा बहार आपको फिर फिर नमस्कार है। संपूर्ण जगत का सौंदर्य आपके सौंदर्य की एक कला मात्र भी नहीं है।

तव फिर इन सव वातों से तो यह ही सिद्ध हुवा कि ये जितने स्वरूप हैं वे सव आप ही के हैं। अतएव अनेकवाहूदरवक्त्रनेत्र आपको अनेकवार प्रणाम है। परंतु जैसे सर्व इष्टिका (ईंटे) रूप मकान नश्वर होता है उस भांत सर्वस्व-रूप आप भी भविष्य में, सुदूरभविष्य में सही, एक न एक दिन निश्चय करके नष्ट हो जाइयेगा। तव यह यदृच्छासृष्टि (Chance Creation) सदा के लिये अनंतशून्य में सो जायगी। अतएव हे शिवजी कोई कल मरा कोई आज, के सिद्धान्तानुसार इस संपूर्ण वखेड़े में कोई सार पदार्थ हांथ आया नहीं। 'चार-दिना की चांदनी और फेर अंधेरा पाख' के न्यायानुसार, बौद्धमत निःसार होता हुवा भी सत्य ही कथन करता है कि यह सव शून्य है, आत्मा नहीं है, 'अनत्ता' है। परंतु नहीं, ऐसा न मानकर क्या ऐसा संभव नहीं है कि जैसे दर्पण सर्वस्व-रूप उद्भासित करने पर भी सर्वविकारविगत त्रिकाल में एक रस बना रहता है, मुख दीखता हुवा भी उसमें वास्तव में मुख होता नहीं इस भांत सर्व सृष्टि वैचि-त्र्य के अधिष्ठानरूप आप सदा सर्वदा विगत विकार ही हो अतएव अनादि और अनंत सत्ता हो। "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥" ऐसे अनिर्वचनीय अपूर्व परंतु सदा से व्यवहार्य आपको भरपेट प्रणाम है। हमारे पास प्रणाम के अतिरिक्त अब और कुछ नहीं है।

नेदिष्ठाय :—सन्निकटतमाय, (अन्तिक, नेदीयस्, नेदिष्ठ, तस्मै नेदिष्ठाय) सवसे अधिक निकट।

प्रियदव :—प्रियः दवः वनं निर्जनस्थानं यस्य सः तस्य संवोधने प्रियदव अर्थात् जिसको सूने निर्जन वन बहुत रुचिकर प्रतीत होते हैं ऐसे हे।

दविष्ठाय :—दूरतमाय, (दूर, दवीयस्, दविष्ठ, तस्मै दविष्ठाय) अर्थात् जो सव से अधिक दूर है।

क्षोदिष्ठाय :—क्षुद्रतमाय (क्षुद्र, क्षोदीयस्, क्षोदिष्ट तस्मै क्षोदिष्ठाय) अर्थात् जो सबसे अधिक छोटा है।

स्मरहर :—स्मरं कामं हरति नाशयति यः सः स्मरहरः तस्य संबोधने, अर्थात् कामारि।

महिष्ठाय :—महत्तमाय (महत्, महीयस्, महिष्ठ, तस्मै) अर्थात् बड़े से बड़ा।

वर्षिष्ठाय :—वृद्धतमाय (वृद्ध, वर्षीयस्, वर्षिष्ठ तस्मै) अर्थात् बूढ़े से बूढ़ा।

यविष्ठाय :—युवतमाय (युवन्, यवीयस्, यविष्ठ, तस्मै) अर्थात् जवानों में सबसे अधिक जवान, पट्ठा।

सर्वस्मै :—सर्वरूपाय, सर्वविभिन्नमूर्त्तिस्वरूपाय, अर्थात् जगत के संपूर्ण स्वरूप जिसके स्वरूप हैं।

तदिदमितिसर्वाय :—तत् परोक्षं ब्रह्म इदम् प्रत्यक्षम् आत्मा इति अनेन प्रकारेण सर्वं यत्र सः तस्मै तदिदमितिसर्वाय इति बहुव्रीहिः समासः। अर्थात् 'तत्' पदवाची ब्रह्म और 'इदम्' पदवाची आत्मा या प्रत्यक्ष सृष्टि आदि सब हैं जिसमें अर्थात् जो सब का अधिष्ठान स्वरूप है ऐसा।

... ...

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ* मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥३०॥

अन्वय :—विश्वोत्पत्तौ बहलरजसे भवाय नमोनमः; तत्संहारे प्रबलतमसे हराय नमोनमः; जनसुखकृते सत्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः; निस्त्रैगुण्ये प्रमहसि पदे शिवाय नमो नमः।

---

*'सत्वोद्रेके' इत्यपि पाठो लभ्यते।

संस्कृतार्थ :—जगदुद्भवायात्यधिकरजोगुणधारिणे ब्रह्ममूर्त्तये भवनाम्ने तुभ्यं वारं वारं नमः। जगन्नाशाय प्रवृद्धतमोगुणाय रुद्रमूर्त्तये हरनाम्ने तुभ्य-मनेकशः प्रणामाः। स्वप्रजानामानंदवर्धनाय रजस्तमसी अभिभूय सत्वाधिकाय विष्णुरूपिणे मृडनाम्ने तुभ्यं बहुशो नमोक्तिः।एवं व्यवहाराय त्रिगुणमूर्त्तये परमार्थतस्तु त्रिगुणातीतप्रकृष्टब्रह्मज्योतिर्धाम्ने शिवनाम्ने तुभ्यं कोटिशो नमो नमः। "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इति श्रुतेः।

भाषार्थ :—जगदुत्पत्ति में अत्यधिकरजोगुण वाले भव (ब्रह्माजी) आपको वार वार नमस्कार है। उसके संहार में प्रबलतमवाले हर (रुद्र) आपको वार वार नमस्कार है। प्रजाके सुख के लिये सतोगुणी मृड (विष्णु) आप को वार वार नमस्कार है। (तत्वरूप से) इन तीनों गुणों से परे ब्रह्मपद वाले शिवजी आप को वार वार नमस्कार है।

भावार्थ :—हे शिव जो! जब आपको सृष्टि रचना करनी होती है तब आपही रजोगुण की मूर्ति ब्रह्मा बन जाते हो, जब उसे नाश करना होता है तब प्रबल तमोगुणी रुद्र हो जाते हो, जब अपने भक्तों का सुख बढ़ाना होता है तब सतोगुणबढ़े विष्णु कहातेहो। इस तरह हे शिवजी सृष्टिरचनापालनसंहारादि व्यवहारिक कार्य के लिये त्रिमूर्ति रूप वाले भी आप वास्तव में इन तीनों गुणों से परे परम ज्योतिस्वरूप ब्रह्मधाम ही हो कि जिसे वेद शिव नाम से पुकारते हैं।

भवाय :—भवति अस्मात् जगत् इति भवः तस्मै, अर्थात् जगदुत्पन्न करने वाले ब्रह्माजी।

बहलरजसे :—बहलं अत्यधिकं रजः यस्मिन् सः तस्मै, अर्थात् जिसमें रजोगुण बहुत है।

विश्वोत्पत्तौ :—विश्वस्य उतपत्तौ विश्वोत्पत्तौ अर्थात् जगदुत्पन्न करने में।

तत्संहारे :—तस्य (जगतः) संहारे तत्संहारे, उसके नाश करने में।

हराय :—हरति इति हरः रुद्रः तस्मै, अर्थात् नाशकारी रुद्र।

जनसुखकृते :—जनानां सुखम् जनसुखं तस्य कृते अर्थात् प्रजाजनों के सुखार्थ [जनानां सुखम् करोति इति जनसुखकृत् तस्मै इत्यपि]

सत्वोद्रिक्तौ :—सत्वस्य उद्रिक्तिः उद्रेकः अतिशयता, सत्वोद्रिक्तिः तस्याम् । सत्वोद्रिक्तौ सत्याम् । यस्य च भावेन भावलक्षणम् इति भावे सप्तमी । अर्थात् सत्वगुण के बहुत बढ़ जाने पर ।

प्रमहसि पदे :—प्रकृष्टं मायया अनभिभूतं महो ज्योतिः यस्मिन् तत् तस्मिन् । अर्थात् माया से परे परमज्योतिस्वरूप परमधामरूप ।

... ...

क्रृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क चेदं
क च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधा—
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥३१॥

अन्वय :—(हे) वरद ! कृशपरिणति क्लेशवश्यम् च इदम् (मे) चेतः क, गुणसीमोल्लंघिनी तव शश्वदृद्धिः च क, इति चकितम् माम् अमन्दीकृत्य (तव) भक्तिः ते चरणयोः वाक्यपुष्पोपहारम् आधात् ।

संस्कृतार्थ :—हे भक्ताभीष्टप्रद ! क मेऽल्पविषया रागद्वेषादिभिरभिभूता मतिः क च तव त्रिगुणावध्यतीतमनाद्यनन्तमैश्वर्यमित्येवं सभीतमपि मां हठात्त्वरमाणेयं त्वद्विषया भक्तिस्तवपादपंकजयोरर्पणायानेन पदकुसुमग्रथित-स्तोत्रकुसुमांजलिना त्वामुपातिष्ठत ।

हे भक्तमनोरथप्रपूरक स्वामिन् ! स्वभावेनैव स्थूलभुजालपबला मादृशानां जीवानां बुद्धिरविद्याजनितरागद्वेषाभिनवेशादिदुःखैरत्यन्तमेव कलुषीकृता न प्रभवति स्प्रष्टुमपि भवतस्त्रिगुणातीतसनातनविभूतिसीमापरि-सरम् । इत्थं कार्यभारगौरवेणानल्पं सशंकितापि मे मतिर्यत्तव गुणकथने प्रवृत्ता तदत्र त्वत्पादपद्मविवशा त्वयि भक्तिरेव कारणम् । त्वद्भक्त्योद्दीपितोऽहं

विस्मृतनिजाश्रमवाग्विभवो यदत्रभवतः सनातनैश्वर्याणां महदननुरूपमिदं स्तोत्रं कृतवांस्तद्भवता परमकारुणिकेन भक्तानुग्रहशीलेनावश्यमेव क्षंतव्यमिति सांजलि प्रार्थये ।

भाषार्थ :—कहां तो ये मेरी अल्पविषया क्लेशविवशा बुद्धि और कहां वह आपका गुणसीमापारलांघने वाला सनातन ऐश्वर्य । इस भांत अति सशंकित भी मुझको आपही की भक्ति ने, हे वरदानी शिवजी ! आपके चरणों में ये वाक रूपी पुष्पांजलि चढ़ाने के लिये विवश किया ।

भावार्थ :—हे भक्तों पर सदा अनुग्रह रखने वाले शिवजी ! यह तो आप सर्वज्ञ को भली भांति विदित ही है कि हमारे लोगों ऐसे जीवों की बुद्धि अपने आदि स्वभाववश ही सदा सगुणसंसार ही में विचर पाती है । क्योंकि साक्षात् श्रुति ही कह रही है कि, "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" । जैसे पशु केवल मात्र अपनी घास ही पर ध्यान रखता है इसही भांति सदा स्वार्थचिंतन में रत यह हमारी बुद्धि भी बड़ी अल्पविषया है । अर्थात् कोई परमार्थी बड़ी बात इसमें समाती ही नहीं । ऐसा तो हमारी बुद्धि का सहज स्वभाव और सामर्थ्य है । उस पर भी करेला और नीम चढ़े की कहावतानुकूल इस बुद्धिने अभी तक अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशादि क्लेशों का भी परित्याग नहीं किया है अर्थात् शांति को भी प्राप्त न होकर महाचंचला और विक्षिप्ता है । यह तो दुर्दशा है हमारी उस बुद्धि तथा वाणी की कि जिसके द्वारा हम गुणगान कर सकते हैं । ठीक विपरीत इसके आपका वैभव अनादि अनंत है और त्रिगुणात्मक संसारकी पहुँच से कहीं परेहै, क्योंकि, "नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप"—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" और भी "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादि । जब विषय और विषयी में इतना महदंतर विद्यमान है, यानी यहां तक कि विषयी तो स्थूलतावश विषयरूप और विषय अपनी सूक्ष्मता के कारण अविषय सा हो रहा है, तो उचित तो यही प्रतीत होता है कि ऐसे अनुचित कार्य करनेका साहसही न किया जाना चाहिये था । परंतु ऐसा न कर हे शिवजी जो मैंने यह धृष्टता की है अर्थात् आपकी स्तुति करने में प्रयतमान हुवा हूँ सो उसका कुछ कारण विशेष ही है । मैं तो अपनी अयोग्यता पूर्णतया समझ और आपकी स्तुतिरूप महत कार्य गौरव को ध्यान में ला अत्यन्त डरा परन्तु मेरी यह सदा की चंचला बुद्धि

कि जिसे आपकी भक्ति का अभिमान (नाज़) सा हो रहा है न मानी और मुझ से इस महत और साहसपूर्ण कार्य को करवाही डाला। अब जब मैं देखता हूँ कि मैं क्या बक गया हूँ तो मुझे आपके अप्रसन्न होने का बड़ा भय लगरहा है क्योंकि जो कुछ भी मैं कह गया हूँ वह सब वास्तव में आपके अनिर्वचनीय वैभव के सर्वथा अननुकूल ही जंचता है। परन्तु हे शिवजी अब तो मतवाले की वाणी की भांति जो मुख से निकलना था निकल चुका, उसका लौटना नितान्त असंभव है। कुसूरहो चुका है और यह आपका सेवक खड़ा दस्तवस्तः गुनहगार है। बचत के लिये नहीं, परन्तु, हे भक्तों पर सदा दया रखने वाले शिवजी! यदि आप कारण पूंछना ही चाहते हैं कि आपकी शान के खिलाफ ये चंद अल्फाज़ क्यों निकले तो इसका उत्तर तो आप अपनी उस त्रिभुवनमोहिनी माया ही से पूंछिये कि जिसका अघटितघटनापटीयस सामर्थ्य जिससे जो चाहता है उचित अनुचित वह सब करवाही डालता है। 'तव मायावश फिरहुं भुलाना'। सत्य तो यह है कि यदि धृष्टता बनी है तो आपकी भक्ति से न कि आपके भक्त से क्योंकि वह तो बराबर उसे रोकता ही रहा। स्थिति यह है; निर्णय आपके हाथ में है। परन्तु यदि हमारे दिल की पूंछते हो तो उसे तो पूर्ण विश्वास है कि हे शिवजी, जैसा सनातन से आपका भक्तों पर वत्सलता दिखाना स्वभाव हो रहा है उस आपके भोलेपन को ध्यान में रख, इसका परिणाम अत्यन्त शुभावह ही होगा क्योंकि "मेरी इसियानों से ज्यादा रहेमतों में जोश है। मैं नदामतपेश हूँ मौला नदामतपोश है"। अतएव जो कुछ भी हो गया उसके लिये हे परम कारुणिक शिवजी हम हाथ जोड़ कर आप से क्षमा मांगते हैं, 'तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्'।

कृशपरिणति :—कृशा अल्पा परिणतिः परिपाकः फलं विषयं यस्य तत्। अर्थात् बहुत थोड़ा जिसका वाग्विभव है।

क्लेशवश्यं :—क्लेशानां अविद्याजनितानां रागद्वेषादीनां वश्यं आयत्तम्। अर्थात् जो रागद्वेषादि क्लेशों के वशीभूत हो रहा है।

क्व क्व :—द्वे महदन्तरं सूचयतः। अर्थात् दो बार क्व क्व (कहाँ कहाँ कुजा कुजा) का प्रयोग बड़े भारी अंतर का बोध देता है।

गुणसीमोल्लंघिनो :—गुणानां सीमा संख्यापरिमाणयोः इयत्ता ताम् उल्लंघयितुम् शीलं यस्याः सा। अर्थात् गुणों की दौड़ से परे।

शश्वदृद्धिः :—शश्वत् सनातनी नित्या ऋद्धिः विभूतिः ऐश्वर्यम् वा। अर्थात् अनादि अनंत महिमा।

चकितं :—सभीतं यथा स्यात्तथा अर्थात् घबड़ाया हुवा सा।

अमन्दीकृत्य :—मन्दम् अमंदं कृत्वा इति अमन्दीकृत्य। अर्थात् हमारे स्वाभाविक जाड्य को हर और मुझे उत्तेजित करके।

आधात् :—अर्पितवती, अर्थात् चढ़ा दिया।

वाक्यपुष्पोपहारम् :—वाक्यानि एव पुष्पाणि तेषां उपहारः बलिः तम् इति। अर्थात् वाक्यरूपी पुष्पों की चढ़ौती को।

... ...

अतःपरं ये श्लोका न ते पुष्पदंतप्रणीता अपि तु केनापि महिम्नः स्तोत्र—भक्तपंडितेन तन्माहात्म्यरूपेण संकलिता इत्यत्र नास्ति कोऽपि संदेहावकाशः। सुस्पष्टमेवैतद्भवति यदि भाषाप्रौढत्वार्थगौरवादेर्महदन्तरं लक्षीक्रियते। पुष्पदंतेन तु, 'महिम्नः पारं ते' इत्यादिना प्रारभ्य 'वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारमिति' यावत्कथयित्वोपसंहृतमेव स्वस्तोत्रं नात्रावकाशोऽतःपरं श्लोकानाम्। नमो नेदिष्ठायेत्यादिकैरेव श्लोकैस्स्तोत्रस्य संनिकटसमाप्तिरुद्घोषिता। क्वचिदपि विद्वज्जनलेखे पठितं यथा स्मरामि तथा नोपलभ्यन्तेऽतःपरं श्लोका जावाद्वीपस्थायां कुत्रचिच्छिलायामुत्कीर्णे महिम्नः पाठे। मधुसूदनस्वामिनापि स्वभाष्ये नो व्याख्याता अतःपरं श्लोकाः सुस्पष्टत्वात् प्रक्षिप्तत्वाच्च। मयाप्यतःपरं संस्कृते टिप्पणीमात्रं दातव्यं भाषायां शब्दार्थमात्रञ्च।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखिनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥३२॥

संस्कृतार्थ :—असितगिरिः कज्जलगिरिः। कज्जलं मसि। पात्रे भाजने। सुरतरुः कल्पवृक्षः। उर्वी पृथिवी।

भाषार्थ :— यदि समुद्र की दावात बना उसमें कज्जलगिरि उतनी मसि घोल दी जाय और कल्पवृक्ष की एक शाखा को लेखिनी बना पृथिवी इतने चौड़े पत्र पर साक्षात भगवती सरस्वती भी यावत जीवन लिखाही करें तब भी हे प्रभो आपके गुणों के पार नहीं जा सकतीं।

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
ग्रंथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।
सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार॥ ३३॥

संस्कृतार्थ :—असुराश्च सुराश्च मुनीन्द्राश्च ते असुरसुरमुनीन्द्राः तैः असुरसुरमुनीन्द्रैः। इन्दुः चन्द्रमाः मौलौ शिरसि यस्य सः इन्दुमौलिः तस्य इन्दुमौलेः। ग्रथिताः स्तोत्ररूपेणगुंफिताः (ग्रंथिवद्दुःविश्लेषणीयानां) गुणानां महिमानः यस्य तस्य ग्रथितगुणमहिम्नः। वरिष्ठः श्रेष्ठः। अभिधानं नाम। अलघुवृत्तैः दीर्घवृत्तैः शिखरणीत्यादिकैः।

भाषार्थ :—जिनकी कि गुण महिमा (गांठवत् खोले नहीं खुलती या कि जिनकी गुण महिमा) इस स्तोत्र में वर्णित है ऐसे असुर देवता और मुनीन्द्रों से पूजित निर्गुण भगवान शिवजी की यह सुन्दर स्तुति शिखरणी आदि दीर्घवृत्तियों में सर्वगणों में श्रेष्ठ श्री पुष्पदंत जी ने किया है।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान्कीर्तिमांश्च॥ ३४॥

संस्कृतार्थ :—अहरहर् प्रतिदिनम् । अनवद्यं निर्दोषम् । धूर्जटेः शंकरस्य ।

भाषार्थ :—जो शुद्धचित्त पुरुष परमभक्तिपूर्वक शिवजी के इस सर्वाङ्ग सुन्दर स्तोत्र को प्रतिदिन पाठ करेगा वह शिवलोक में तो रुद्रतुल्य पदवी को प्राप्त होगा और इस संसार में अत्यधिक धन आयु पुत्र और कीर्ति को पावेगा ।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मंत्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥३५॥

संस्कृतार्थ :—अघोरः शिवः । नास्ति घोरो भयंकरो यस्मात् सः अघोरः शिवः आत्मा वा । ईशानाघोरनामानौ वामदेवस्ततः परम् । सद्योजात इति प्रोक्तः क्रमशोऽर्चनकर्मणि ॥

भाषार्थ :—भगवान महेश्वर से बढ़कर कोई देवता नहीं है । महिम्न से बढ़कर कोई स्तुति नहीं है । अघोर से बढ़कर कोई मंत्र नहीं है । और गुरु से बढ़कर कोई तत्व नहीं है ।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नस्तव पाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ :—दीक्षा दान तप तीर्थ ज्ञान यागादिक क्रियायें आपके महिम्न स्तोत्र पाठ की सोलहवीं कला की बराबरी भी नहीं कर पातीं ।

कुसुमदशननामा सर्वगंधर्वराजः
[1]शिशुशशिधरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु [2]निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥३७॥

---

१ शशिधरवरमौलेः इत्यपि पाठः २ गुरुनिजमहिम्नो इति पाठांतरम् ।

संस्कृतार्थ :—कुसुमदशननामा पुष्पदंताभिधानः । शिशुशशिः द्वितीया-चन्द्रः । देवदेवस्य महादेवस्य ।

भाषार्थ :—द्वितीयाचंद्रधारी महादेव जी के दास पुष्पदंतनामी सर्वगंधर्वों के राजा ने कि जो इन्हीं शिवजी के क्रोध से अपनी महिमा से च्युत हो गये थे यह दिव्यातिदिव्य महिम्न स्तोत्र बनाया ।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्रांजलिर्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३८ ॥

संस्कृतार्थ :—ऐकहेतुम् मुख्यकारणम् । नान्यचेताः एकाग्रचित्तः ।

भाषार्थ :—यदि मनुष्य हाथ जोड़ एकाग्रचित्त हो पुष्पदंतरचित इस अमोघ स्तुति को कि जो देवता और श्रेष्ठ मुनियों से पूजित और मुक्तिप्राप्ति मे मुख्य हेतु है, पढ़ा करे तो वह किन्नरों से स्तुति किया हुआ शिवलोक पहुँचेगा।

श्रीपुष्पदंतमुखपंकजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ३९ ॥

संस्कृतार्थ :—किल्बिषहरेण पापघ्नेन । समाहितेन (पुरुषेण) अनन्य-चेतसा पठितेन कंठस्थितेन.........स्तोत्रेण......महेशः सुप्रीणितो भवतीत्यन्वयः। सुप्रीणितो सुप्रसन्नो । भूतपतिः जगत्पतिः ।

भाषार्थ :—यदि एकाग्रचित्त पुरुषद्वारा कंठस्थ कर यह श्रीपुष्पदन्त-मुखकमलोत्पन्न पापघ्न शिवप्रिय स्तोत्र पढ़ा जाय तो जगत्पति महादेव अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

इत्येषा वाङ्मयीपूजा श्रीमच्छंकरपादयोः।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीपुष्पदंतविरचितं शिवमहिम्नः स्तोत्रं संपूर्णम् ॥

भाषार्थ :—ये वांगमयी पूजा श्रीमान् शंकर जी के पादकमलों पर अर्पित है इससे देवों के स्वामी सदाशिव मुझपर प्रसन्न हों।

उमाप्रदत्तार्धशरीरभागं गंगेन्दुनागैर्धृतशेषगात्रम्।
सर्वात्मदानादखिलात्मभाजं शिवाय वंदे खलु योगिराजम् ॥

मधुसूदनं स्वामिनं वंदे शिवभक्तं शास्त्रपारगम्।
तीर्थभूतेन येनाहं महिम्नोऽब्धिरवगाहितः ॥
वज्रसारं विभिद्यैनं स्तोत्रं महिम्नोऽभिधानकम्।
यस्य सुकृतिमार्गेण सूत्रसरलं गतं मया ॥

इति श्रीमद्गुरोर्महादेवस्य दासानुदासेन स्वयंभूनाथ-सूनुना ललिताप्रसादवर्मणा कृता श्रीपुष्पदन्तप्रणीतशिव-महिम्नःस्तोत्रस्य ललिताख्या टीका संपूर्णा। शुभं भूयात्। कार्तिककृष्णाष्टमी श्रीविक्रम संवत् १९८९।